TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

हिन्दी-कविता

लेखक

डा० रामरतन भटनागर

किताब महल - इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९५८

प्रकाशक—किताब-महल, ५६ ए, ज़ीरो रोड इलाहाबाद

मुद्रक—चिन्तामणि हटेला. हिन्द समाज प्रेस. कीटगञ्ज प्रयाग।

आमुख

हिन्दी कविता हिन्दी साहित्य का सबसे विशिष्ट अंग है। १८०० ई० तक हमारा सारा धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यिक चिंतन काव्य के माध्यम से ही प्रकाशित हुआ। आधुनिक युग में साहित्य की अनेक नई धाराएँ, अनेक नए प्रकार हमारे सामने आए हैं परन्तु अब भी हमारे साहित्य का प्रतिनिधित्व कविता ही कर रही है। भारतवर्ष की कुछ ऐसी ही विशेषता रही है कि उसकी संस्कृति का सबसे सुन्दर रूप काव्य द्वारा ही प्रकाशित हुआ है।

परन्तु इतना कहने भर से काम नहीं चलता। हिंदी का काव्य-साहित्य अनेक प्रकार से अनूठा है और आधुनिक विश्व-साहित्य में उसका स्थान प्रमुख रहेगा। भक्ति, शान्ति, वीरता, वैराग्य और शृङ्गार की जो सुषमा हमारे १२०० वर्षों के काव्य-साहित्य में मिलती है, वह किस आधुनिक भाषा के साहित्य में मिलेगी? विद्यापति, चंद, कबीर, दादू, सूर, तुलसी, मीरा, बिहारी, निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी का काव्य निःसंकोच पूर्वी-पश्चिमी किसी भी काव्य-सम्पदा के समक्ष रखा जा सकता है और यह निश्चय है, वह हलका नहीं पड़ेगा। वह साहित्य तो है ही, परन्तु बहुत अंशों में वह साहित्य से भी बड़ी चीज़ है। वह हमारे जीवन की स्थायी निधि बन सकती है और हमें धूलि से ऊपर उठाकर अनन्त आकाश के आनन्दलोक का परिचय करा सकती है। जो कनक-प्रसून उसने हमें दिये हैं, वह काल-वायु के बवंडर में पड़ कर भी स्खलित होना नहीं जानते।

ऐसी हिन्दी कविता की यह एक रूपरेखा मात्र है जो आपके हाथ में है।

स्वाधीनता-दिवस,

रामरतन भटनागर

विषय-सूची

भूमिका

हिन्दी काव्य में पिछले एक हज़ार वर्ष की भारतीय साधना, चिन्ता और संस्कृति सुरक्षित है। इन एक सहस्र से ऊपर वर्षों में भारतवर्ष की प्रमुख साधना आध्यात्मिक रही है। यह आध्यात्मिक साधना दो प्रमुख धाराओं में हमारे सामने आती है। एक धारा ऊपर के समाज (सवर्ण) को लेकर बढ़ती है और प्राचीन हिन्दू पौराणिक धर्म-भावना पर आश्रित है। वह दूसरे वर्ग की साधना से बहुत कम प्रभावित हुई है, परन्तु अपने ही वर्ग में उसके कई आलम्बन हैं--राम, कृष्ण, अन्य अवतार, देवी-देवता। यह साधना वैष्णव-काव्य में प्रकाशित हुई है। १६वीं शताब्दी से चलकर आधुनिक काल तक यह धारा अटूट चली आती है। इस साधना का रूप भक्ति है। दूसरी साधना-धारा विशेषतया निचले वर्गों में बही है। वह एक प्रकार से सवर्णों के आध्यात्मिक अधिकारों के प्रति प्रतिक्रिया है। यह धारा अवतारवाद का विरोध करती है। जनता के अनेक विश्वासों को पकड़ती है। हठयोग में इसे विश्वास है। प्रारम्भ में इसने नैतिकता की उपेक्षा की है, परन्तु धीरे-धीरे कट्टर नैतिकता का समावेश इसमें हो गया है। यह साधना-धारा लोकपक्ष को अपने सामने रखती है। इसका दृष्टिकोण यथार्थवादी है। इसने मध्ययुग की जातीय-भेद-समस्या और हिन्दू-मुस्लिम-समस्या को हल करने की चेष्टा की है। जनता के नैतिक बल को ऊपर उठाया है।

मुसलमानों के एक वर्ग--सूफ़ी-सन्तों--की आध्यात्मिक साधना भी एकांश में हिन्दी सूफ़ी काव्य में प्रकाशित हुई है परन्तु वहाँ उसका मौलिक रूप बहुत कुछ बदला मिलता है।

हमारे हिन्दी काव्य में इन मुख्य आध्यात्मिक साधनाओं के अतिरिक्त अनेक लौकिक भावनाओं और चिन्तनाओं के भी दर्शन होते हैं। परन्तु उनका सम्बन्ध विशेष वर्गों से है।

प्रारम्भिक काल की वीरगाथाओं में शासक-वर्ग (क्षत्रिय, राजपूत) के शृङ्गार मूलक वीरत्व का सुन्दर चित्रण है। इसमें जातीय या राष्ट्रीय भावना नहीं। सत्रहवीं शताब्दी के वीर काव्य में यह भावना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। हिन्दू जातीयता मुसलमान जातीयता के विरोध में उठ खड़ी हुई है। १६वीं शताब्दी के आरम्भ तक देश के शासक और उसके सम्पर्क में आने वाले वर्ग में शृङ्गार-भावना की प्रधानता थी। १६वीं शताब्दी में विलास और कला-कृत्रिमता को प्रधान स्थान मिला। १६वीं शताब्दी के बाद हमारा साहित्य पहली बार जनापेक्षित हुआ, अतः उसमें सच्चे रूप में जन-भावनाएं प्रस्फुटित हुईं। साथ ही उसका स्वर आध्यात्मिकता एवं अतिशृङ्गारप्रियता से उतर कर लौकिक हुआ और अनेक आरोहों-अवरोहों में फूटा। अब से साहित्य के विषय हुए—देशप्रेम, जातिप्रेम, लोकसेवा, आशा और निराशा, सामाजिक, अर्थनैतिक और राजनैतिक सङ्घर्ष और व्यक्ति पर उनकी प्रतिक्रियाएं।

भारतीय संस्कृति का आधार कुटुम्ब है। सूफ़ियों के कथा-चरित्र, रामचरितमानस और लौकिक काव्य को इसीका आधार मिलता है। कुटुम्ब और उसकी संस्था से विकसित अनेक प्रसंगों ने हिन्दी साहित्य को रसपूरित किया है।

परोक्ष रूप से हिन्दी काव्य के पीछे चाहे परतंत्रता का स्वर बजता हो, परन्तु वह परतंत्र साहित्यिकों की उपज होने के कारण लांछित हो, यह बात नहीं। परतंत्र के कारण हमारी भाषा और हमारे काव्य पर शासक जातियों की भाषा और उनके काव्य के प्रभाव पड़े तथा उनके स्वतंत्र-विकास में बाधा भी पड़ी परन्तु इस मत को बहुत दूर तक

नहीं बढ़ाया जा सकता। हो सकता है स्वतंत्र होने पर कुछ नए उपकरण होते, कुछ इन्हीं स्वरों का नाद तीव्र होता, परन्तु परिस्थिति मूलत: बदल जाती, यह सोचना भूल है।

हमारा वैष्णव काव्य पौराणिक काव्य का आधार लेकर चलता है और साथ ही उसे संस्कृत काव्यों और काव्य शास्त्रों का सहारा भी मिला है। हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद देश में सगुणोपासना के आधार पर वैष्णव मत का पुनरुत्थान हो रहा था। हिन्दी काव्य में वही प्रस्फुटित हुआ है। सम्भव है विदेशी शासन ने कवियों की दृष्टि कृष्ण और राम तक सीमित कर दी हो और उनके स्वर को 'रुद्र' नहीं होने दिया हो; परन्तु मूलरूप में मध्ययुग का वैष्णव पुनरुत्थान बराबर गंभीर और व्यापक होती हुई धारा का अन्तिम परिच्छेद है। उसमें हमारी संस्कृति की सुन्दरतम नैतिक भावनाएँ सुरक्षित हैं। सूफ़ी साहित्य में बहुत कुछ भारतीय है, उसके आध्यात्मिक अर्थों को हटा कर लगभग सब भारतीय है और आध्यात्मिक अर्थ भी भारतीय वेदांत के आधार पर अवस्थित भक्ति से अधिक दूर नहीं पड़ता।

शृङ्गार-काव्य के मूल में भी एक परम्परा है। इस परम्परा की ओर कवि क्यों बढ़े, इसका उत्तर सामयिक परिस्थिति और आश्रयदाताओं की रुचि भले ही हो, परन्तु प्राचीन प्राकृत और संस्कृत मुक्तककारों, काव्याचार्यों और महाकवियों के काव्य हिन्दी के शृङ्गार-काव्य को पग-पग पर, बल देते रहे हैं। वास्तव में संस्कृत शृङ्गार साहित्य ने वैष्णव धर्म भावना को भी प्रभावित किया और उसके काव्य को भी। राधा-कृष्ण के आलम्बन के कारण इस प्रभाव पर दृष्टि नहीं जाती परन्तु जब युग की विशेष परिस्थिति के कारण आलम्बनों का स्वरूप अस्पष्ट हो गया अथवा काव्य उनसे स्वतंत्र हो गया, तो हमें हिन्दी के रीति-काव्य के दर्शन हुए।

परन्तु १८वीं शताब्दी तक हिन्दी काव्य साहित्य में कई अभाव खटकते हैं। वह अधिकतः ऊर्ध्वमूलक है। वह या तो परलोक पर आश्रित है या असाधारण शासक वर्ग पर। उसमें जनसाधारण के प्रतिदिन के सुख दुख और आशाकांक्षा के नाम पर कुछ भी नहीं। इस बड़े काल में जन-समाज क्या केवल भक्त था ? या इन्द्रिय-जन्य वासनाओं में लिप्त था ? क्या उस समय हिन्दू नारियाँ आत्मोत्सर्ग नहीं करती थीं ? पुरुष अपने समाज और स्वतंत्रता के लिए सुख की बलि नहीं देते थे ? क्या कुटुम्ब इसी प्रकार नहीं चल रहे थे जिस प्रकार आज चल रहे हैं ? परन्तु ये सब हमारे काव्य में कहाँ ?

बात यह है कि उस समय जनता की ओर काव्य का मुख नहीं था। काव्य-परिपाटी में जनता का कोई स्थान नहीं था। जनता अपना अलग साहित्य बना रही थी। यह साहित्य लोकगीत-साहित्य है जिसका केवल कुछ अंश सुरक्षित रह सका है। सूक्ष्म अध्ययन से यह अवश्य पता चलता है कि हमारा साहित्य और जनसाहित्य बराबर एक दूसरे से प्रभावित होते रहे हैं परन्तु उनमें एक दूसरे का स्थान नहीं ले सका। आधुनिक काल में भी साहित्य जनसाहित्य के समीप नहीं आया है, न भाषा की दृष्टि से और न भाव की दृष्टि से। अभी भाषा और भावप्रकाशन सम्बन्धी प्राचीन रूढ़ियाँ कड़ी हैं, टूट नहीं पातीं। परन्तु अब उसका मुख जनता की ओर हो गया है। उसमें जन-साधारण की आशा-निराशा के स्वर बजने लगे हैं।

हिन्दी काव्यसाहित्य को हमें एक दूसरी दृष्टि से भी देखना होगा। वह मूलतः हिन्दू संस्कृति की उपज हुई। इस संस्कृति को पिछले एक सहस्र वर्षों में दो विदेशी संस्कृतियों से मोर्चा लेना पड़ा है, दोनों बार उसने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की है। जहाँ एक वर्ग विदेशी संस्कृति से सामञ्जस्य स्थापित करने की समन्वय-भावना लेकर चला, वहाँ दूसरा वर्ग प्रतिरोध-भावना लेकर चला। प्राचीन काल में पहले वर्ग ने

संत-काव्य की रचना की, दूसरे वर्ग ने वैष्णव-काव्य की। जो वर्ग प्रतिरोध भावना लेकर चला उसने प्रत्येक बार प्राचीन सांस्कृतिक व्यवस्था को समझ कर उसे नवीन परिस्थिति के अनुसार नया रूप देने की चेष्टा की। फलतः वह पौराणिक विषयों की ओर मुड़ा और उसकी भाषा की तत्समता बढ़ी। इसीलिए सोलहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में हमें एक बड़ी संख्या में उन स्मृति ग्रन्थों और पुराणों का अनुवाद होता हुआ दिखलाई पड़ता है जो हमारी संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं। वास्तव में हमारा वैष्णव काव्य मध्ययुग के पुनरुत्थान-मूलक साहित्य का केवल एक अंश है। उसे व्यापक क्षेत्र में रख कर ही उसका ठीक-ठीक मूल्य आँका जा सकेगा। इसके साथ ही कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत वर्ग-भावना के भी दर्शन होते हैं परन्तु उसका रूप कहीं भी सुस्पष्ट नहीं हो सका है।

हिन्दी के नये और पुराने काव्य में इतनी अधिक असमानताएँ हैं कि उनकी रूपरेखा निश्चित करना और उनके मौलिक भेदों को ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है। साधारण रूप से हम १८५० ई० को विभाजन रेखा मान सकते हैं। १८५० ई० से पहले का साहित्य पुराना काव्य साहित्य है और इसके बाद का नया। पुराने काव्य में हमें चार मूल भावनाओं की प्रधानता मिलती है—भक्ति, धर्म, वैराग्य, शृङ्गार और वीर। बहुधा किसी एक प्रकार के काव्य में ये भावनाएं शुद्ध रूप में अलग-अलग नहीं मिलेंगी। भक्ति-काव्य में भक्ति और शृङ्गार का मिश्रण भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इसीसे संत साहित्य में जहां वैराग्य-भावना है, वहाँ निर्गुण के प्रति भक्ति भी है। हिन्दी का प्राचीन वीर काव्य शृङ्गार की भावना पर आश्रित है। इस प्रकार हिन्दी के पुराने साहित्य में हमें उपरोक्त भावनाएँ कभी शुद्ध, कभी मिश्रित रूप में मिलेंगी। हिन्दू राष्ट्रों की पराजय इतनी शीघ्रता से हुई कि जातीय वीरकाव्य के निर्माण के लिए समय ही नहीं मिला।

मध्ययुग के अन्त में हमें सूदन, भूषण और गुरु गोविन्दसिंह के रूप में जातीय कविता का गान करने वाले कुछ कवि अवश्य मिल जाते हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। राष्ट्रीय वीर भावना का तो एकदम अभाव है क्योंकि मुसलमानों के आने के बहुत पहले ही हिन्दू राष्ट्र भावना से हाथ धो बैठे थे। मुग़लों के समय में कुछ काल तक सारा उत्तर भारत एकछत्र सम्राटों के शासन में रहा, परन्तु राष्ट्रीय-भावना का पुनरुद्धार नहीं हुआ। पराजित हिन्दू तीर्थ-यात्राओं और संकल्प-मंत्रों में अवश्य भारत को एक राष्ट्र मानते रहे। नये साहित्य में ये चारों भावनाएँ हैं परन्तु इनका रूप बदल गया है। आजकल भक्ति और वैराग्य को कविता का विषय अधिक नहीं बनाया जाता और इन्हें काव्य का विषय बना कर जो कुछ लिखा भी जाता है उसका साहित्यिक रूप और साहित्यिक महत्व बहुत कम होता है। शृङ्गार और वीर भावनाएँ कभी प्रगट और कभी अप्रकट रूप में एक बड़ी मात्रा में मिलेंगी परन्तु आलम्बन के रूप और भाव-प्रकाशन शैली में महान् अंतर है।

अंतर कहाँ है, यह देखना भी अनुचित नहीं है। प्राचीन काव्य-साहित्य में नायिका के रूप-वर्णन के, प्रेम और विरह और केलि-विलास के स्थूल चित्रण मिलेंगे। जो कुछ मिलेगा उसमें रीतिशास्त्र को अनुभूति के ऊपर रखा गया होगा। आधुनिक प्रेम काव्य में न नख-शिख वर्णन को स्थान मिला है, न केलि-विलास को। प्रेमी-प्रेमिकाओं के भावना जगत और उनके मनोभावों के सूक्ष्म वैज्ञानिक चित्रण की ओर ही कवियों की दृष्टि अधिक है। आज दूती, अभिसार, विपरीत रति, सुरतांत और सुरतारम्भ का बहिष्कार हो गया है। कवि की दृष्टि हाव-भाव से हटकर प्रेमी की तन्मयता, आत्मबलिदान की भावना और समर्पण के उत्साह पर ही अधिक जाती है। वीर-भावना-मूलक उत्साह का रूप भी बदल गया है। उसमें भी कष्ट सहन और आत्मोत्सर्ग की भावनाओं को ही प्रधानता मिली है। प्राचीन वीर काव्य युद्ध के

यथार्थ चित्रण पर आश्रित है परन्तु नये कवि को ऐसे वीर नायक का चित्रण करना नहीं होता जो युद्ध-व्यवसायी है या शस्त्र उठाकर आत्मरक्षा के लिए उतरता है। आज के वीर काव्य का रूप राष्ट्रीय है। उसके मूल में भारत को स्वतन्त्र और महान् बनाने की भावना है। पिछले अहिंसात्मक आंदोलनों ने खड्ग, रक्तपात और प्रतिहिंसा को काव्य के क्षेत्र से भी निकाल दिया है। इसीलिए वीर काव्य के लिए उस प्रकार के अनुप्रास-प्रधान काव्य की आवश्यकता नहीं रही जो भूषण और सूदन ने हिन्दी को दिया है।

अनेक नई भावनाओं के भी दर्शन हुए हैं। नये काव्य में देश के प्रति भक्ति और प्रेम, राष्ट्रीय और जातीय वीरों की गुण-गाथा का गान, अपनी पतित दशा पर शोक, नारी स्वतन्त्रता के गीत, व्यक्ति की आशा और निराशा, प्रकृति के प्रति आकर्षण और प्रेम, रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति, प्रतिदिन के दैनिक जीवन का विश्लेषण, राष्ट्रीय और जातीय समस्याएँ प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं। नवीन परिस्थितियों ने काव्य के लिए नये विषय दिये हैं। पूर्व मध्ययुग ने हमारे साहित्य को भक्ति की धार्मिक भावना में बाँध रखा था, उत्तर मध्ययुग में उसे संस्कृत आचार्यों के रीति-शास्त्र के विधि-विधानों ने जकड़ लिया था। अब पहली बार वह व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र से अंतस्तल को छूने लगा है और अंतर्राष्ट्रीय भावनाएँ भी कभी-कभी उसे स्पंदित कर दिया करती हैं।

क्षेत्र की इस विशालता और व्यापकता के कारण अब साहित्य का केन्द्र काव्य नहीं रहा है, गद्य हो गया है। प्रेमचन्द के उपन्यास ही आज हमारे महाकाव्य हैं। १८५० ई० से पहले गद्य में बहुत थोड़ा लिखा गया और जो लिखा गया वह किसी भी प्रकार महत्वपूर्ण नहीं है। तब काव्य और साहित्य पर्यायवाची जैसे थे। आज गद्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जो शक्ति, जो विभिन्नता, जो विशदता

आज गद्य-साहित्य में है, वह काव्य में भी नहीं है। नया साहित्य नवरसों को ही जीवन में नहीं ढूँढ़ता। जीवन में नवरसों का महत्व-पूर्ण स्थान है परन्तु इनसे परे भी बहुत कुछ है। नया काव्य-साहित्य उसे ही खोज रहा है।

प्राचीन और नवीन काव्य में जो एक अन्तर अत्यन्त मुखर है वह यह है कि प्राचीन काव्य रसधर्मी अधिक है। उसमें बौद्धिक तत्व अधिक नहीं है। थोड़े बहुत अध्यात्मचिन्तन को छोड़कर बुद्धि को आनन्द देने वाला साहित्य अधिक नहीं है। नवीन साहित्य बुद्धि पर आश्रित है परन्तु हृदय को साथ लेकर आगे बढ़ता है। वह हृदय और मस्तिष्क में सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है, यद्यपि वह अभी हृदय की अपेक्षा मन के अधिक निकट है। जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि नये साहित्य का आलंबन भौतिक ही अधिक है और इसीसे वह बौद्धिक तत्वों को स्थान देने में समर्थ हुआ है। उसके मूल्यांकन के लिए हमें नये सिद्धांत गढ़ना पड़ेंगे जिनमें हृदय और बुद्धि के तत्वों का सामञ्जस्य हो। प्राचीन साहित्य की कई धाराएँ उसके भीतर अब भी चल रही हैं परन्तु हृदय-धर्म की अपेक्षा बुद्धि-धर्म की अधिक प्रधानता के कारण उसका रूप भी बदल गया है। उदाहरण-स्वरूप, वैष्णवकाव्यधारा की राम-कृष्ण की परम्परा आज भी चल रही है, परन्तु आज के राम-कृष्ण-काव्य में भक्ति गौण है। चरित्र-चित्रण, नये मूल्यों के अनुसार कथा का नवीन सङ्गठन और इसी प्रकार की बुद्धि मूलक बातें अधिक हैं।

इन १००० वर्षों में हिन्दी काव्य पर अनेक विदेशी प्रभाव पड़े हैं। आलोचक के लिए हिन्दी काव्य की मौलिक प्रवृत्तियों से इन प्रभावों को अलग करना आवश्यक है। तभी वह हिन्दी कविता के वास्तविक मूल्यांकन में सफल होगा।

६वीं शताब्दी के आरम्भ में एक नई संस्कृति की दृष्टि भारत पर

पड़ी। धीरे २ उसने अपनी राजनैतिक शक्ति द्वारा अपनी नींव हिंदी प्रदेश में जमा ली। लगभग इसी समय हिन्दी भाषा का जन्म हुआ था और साहित्य भी बन पाया था। पहले नवीन संस्कृति और उसके साहित्य का प्रभाव हिन्दी पर नहीं पड़ा परन्तु समय बीतने पर धीरे-धीरे यह प्रभाव पड़ने लगा। पहले विदेशी फ़ारसी अरबी भाषाओं का प्रभाव पड़ा, संस्कृति और साहित्यमूलक विशेषताओं का बाद में। चन्द के महाकाव्य रासो में फ़ारसी शब्द बहुत से मिलते हैं परन्तु उसकी आत्मा पूरी तरह भारतीय है। उनका काव्य का रंग, रूप, गठन सब संस्कृत महाकाव्यों की रूपरेखा पर दृढ़ किया गया है। रासो की रचना ६० वर्ष बाद के दिल्ली के अमीर ख़ुसरो की कविताओं से हमें पहले-पहले मालूम होता है कि अब मुस्लिम संस्कृति रङ्ग लाने लगी है।

मुस्लिम संस्कृति की कई विशेषताएँ थीं। वह एकेश्वरवादी थी। वह फक्कड़ी जीवन, ऐशो-आराम और विलास पर क़ुर्बान हो रही थी। उसमें एक दल ऐसा था जो अपने को सूफ़ी कहता था और जिसके आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी विचार वेदांत के समान थे। यह दल भावनात्मक प्रक्रियाओं द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधना करता था। 'प्रेम' और 'विरह' इसकी साधना के प्रधान अंग थे। हिन्दी साहित्य पर सबसे पहले प्रभाव दूसरी विशेषता का पड़ा। अमीर खुसरो ने मुकरी, पहेली, रेख़्ता जैसी चीज़ें लिखीं जिन्हें हम मनोरञ्जक काव्य कह सकते हैं। परन्तु विजित हिन्दुओं के तत्कालीन साहित्य में इस प्रकार के मनोरञ्जन के चित्र दिखलाई नहीं पड़ते। इसका कारण है कि इसी समय भक्ति के आन्दोलन का सूत्रपात हो गया। यदि यह आन्दोलन उठ खड़ा न होता तो अवश्य ही हिन्दी साहित्य-शासकों की सस्ती भावुकता का शिकार हो गया होता जैसे इस आन्दोलन के शिथिल होते ही हो गया। यह आन्दोलन आत्मरक्षामूलक था और इसकी भित्ति पौराणिक धर्म पर रखी गई थी। जब तक इसमें

बुद्धिवाद की प्रधानता रही तब तक वह इस्लामी भावनाओं से प्रभावित नहीं हुआ और बाद में जब भावुकता के साथ इसके साहित्य ने इस्लामी रङ्ग पकड़ा तब भी इस पर बहुत कम प्रभाव पड़ा। मुग़लों के समय तक जनता में मुस्लिम मनोवृत्ति बहुत कुछ घर कर गई थी। वह भी विलासी हो गई थी। धर्म ने रङ्गीला रूप ग्रहण कर लिया था। धीरे-धीरे इस विलासी मनोवृत्ति ने भक्ति को निगल लिया। पहले जो विलास-भाव अंश रूप से भक्ति-साहित्य में राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं के चोले में घुस आया था, वह वामन अब तीन डग में साहित्य के सारे संसार को नाप गया और कला के दूसरे लोकों में भी जा पहुँचा। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के रीतिकाल का जन्म हुआ।

रीतिकाल के कवियों ने फ़ारसी कवियों की विरह-वर्णन-सम्बन्धी अतिशयोक्तिपूर्ण शैली को अपना लिया। प्रेमी की कृशता, उसके खून के आँसू, माशूक (प्रेमिका) की बेवफ़ाई के प्रति उपहास-जनक गिले-शिकवे-फ़ारसी साहित्य की यह सम्पत्ति कुछ इसी रूप में कुछ बदले रूप में हिन्दी में भी आ गई। यह अतिरञ्जित कलुषित प्रेमभावना तीन शताब्दियों तक हिन्दी के गले पड़ी रही। वर्तमान हिन्दी साहित्य ने एक बार फिर मुस्लिम वैभव के चिन्ह प्याले, सुराही और शराब को अपनाया है। परन्तु इस बार प्रच्छन्न रूप में। उस पर आध्यात्मिक रूपक के आरोप की चेष्टा की गई है।

मुसलमान संस्कृति की दूसरी विशेषता सूफ़ी भावना ने हिन्दी साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया। स्वयम् सूफ़ी मुसलमानों के साहित्य के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं हो सकता, परन्तु सन्त-साहित्य का एक बड़ा भाग सूफ़ी भावनाओं से प्रभावित है। इसके अतिरिक्त कितने ही हिन्दू सूफ़ियों की कविताएँ भी हमारे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। मुस्लिम-संस्कृति की एकेश्वरवादी भावना का प्रभाव हमें सन्त काव्य के रूप में मिलता है। मुसलमानी फ़ारसी साहित्य में

भावना की प्रधानता थी। अतिरञ्जित-विरह-वर्णन का उल्लेख ऊपर हो चुका है। जीवन के प्रति इसका दृष्टिकोण नैराश्यपूर्ण था परन्तु इसकी कथा-कहानियों में घटना वैचित्र्य कम नहीं होता था। सूफ़ी कवियों के हिन्दी-प्रबन्ध-काव्यों पर घटना-प्रधान आश्चर्यमूलक फ़ारसी कथाओं का प्रभाव लक्षित है।

बङ्गला काव्य के प्रभाव रविबाबू के माध्यम से १९१४ ई० के लगभग पड़ना आरम्भ हुआ। उनके गीतांजलि ग्रन्थ के अनुवाद की शैली पर गद्य में एक नई प्रकार की शैली का जन्म हुआ जिसे उपयुक्त नाम न मिलने के कारण हम 'गद्यगीत' कहते हैं। पद्य में "छाया-वाद" शैली की कविताओं का जन्म हुआ जिनमें लाक्षणिकता का आधिक्य था और कवि किसी रहस्यमय सत्ता के प्रति उन्मुख होता जान पड़ता था। यह प्रभाव अब तक बना है।

अंगरेज़ी काव्य-साहित्य का प्रभाव भी कम नहीं है। पं० श्रीधर पाठक की रचनाओं पर गोल्डस्मिथ का प्रभाव है। छायावादी कवि-ताओं पर शैली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, टेनीसन आदि रोमांटिक कवियों की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द के बाद हिन्दी समाज की वैसी ही परिस्थिति उत्पन्न हो गई जैसी उन्नीसवीं शताब्दी के अँगरेज़ी-समाज की थी, अतः कवि आंग्ल साहित्य के १९वीं शताब्दी के काव्य की ओर मुड़े। उन्होंने उसकी लाक्षणिकता उसकी काव्य-शैली और कहीं-कहीं शब्दों और मुहावरों के भी अनुवाद अपना लिए जैसे 'स्वर्णिम हास' और 'रेशम के-से बाल' जिसके लिए Golden Laughter और Silken hair पहले से ही उपस्थित थे। पंत की कविता में इनका प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। आंग्ल साहित्य के प्रभाव से अङ्गरेजी ढङ्ग की कविताए लिखी जाने लगीं और Lyric के ढङ्ग पर गीतिकाव्य या गीति, Ode के ढङ्ग पर सम्बोधन के

रूप में लिखी जाने वाली कविताओं Narratives के ढङ्ग पर वर्णनात्मक कविताओं का प्रवेश हुआ। कवियों ने विशेषण-विपर्यय, ध्वनिचित्रण, मानवीकरण आदि अनेक पश्चिमी अलङ्कारों का प्रयोग आरम्भ किया।

इधर काव्य-जगत् पर समाजवादी पश्चिमी लेखकों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ रहा है। समाजवाद स्वयं एक विदेशी भावना है। चूँकि हम अभी समाजवाद का भारतीय रूप नहीं बना सके हैं, इसलिए हम समाजवादी काव्य का भी भारतीय रूप सामने नहीं ला सके हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रगतिवाद नाम की धारा समाजवादी दृष्टिकोण से विशेष रूप से सम्बद्ध है।

इतने प्रभावों के होते हुए भी हिन्दी काव्य ने अपनी मौलिकता बनाए रखी है। यही नहीं, इसने उनसे बल प्राप्त किया है। शीघ्र ही वह उन विदेशी भाषाओं के समकक्ष हो जायगी जिनका प्रभाव आज उस पर पड़ रहा है और जो उससे कई क्षेत्रों में आगे है।

धर्म, संस्कृति और भावना की दृष्टि से हिन्दी काव्य हिन्दुओं का काव्य है और हिन्दी प्रदेश की संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के काव्यों का उत्तराधिकारी है। यह मुख्यतः हिन्दुओं का ही काव्य है, यह इससे भी स्पष्ट है कि मुसलमानों में इस काव्य के पठन-पाठन का प्रचलन नहीं है। जो काव्य उनमें प्रिय है उसकी भाषा, शैली और साहित्यिक एवम् सांस्कृतिक सम्पदा हिन्दी कविता की इसी प्रकार की सम्पदा से नितांत भिन्न है। फिर भी मुसलमानों ने हिन्दी काव्य को अनेक सुन्दर उपहार भेंट किये हैं।

जिन मुसलमानों ने हिन्दी काव्य की रचना की है उन्हें पाँच वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला और सबसे महत्वपूर्ण वर्ग सूफ़ी मुसलमानों का है जिन्होंने हिन्दी को एक विशेष प्रकार का कथात्मक काव्य

साहित्य दिया। इस साहित्य की महत्ता इसीसे प्रगट हो जायगी कि पं० रामचन्द्र शुक्ल प्रबंध काव्यों में रामचरितमानस के बाद सूफ़ी कवि जायसी के पद्मावत को ही प्रमुख स्थान देते हैं। कुतबन, नूर मुहम्मद, मंझन आदि कवि इसी वर्ग में आते हैं और यद्यपि वे जायसी की उच्चता को नहीं पहुँचते, तथापि हिन्दी कथाकाव्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। इन मुसलमान कवियों का मूल उद्देश्य सूफ़ी धर्म का प्रचार था और उन्होंने इस प्रचार के लिए जहाँ अनेक प्रकार के प्रयत्न किये वहाँ काव्य को भी अपना माध्यम बनाया। हर्ष की बात है कि उन्होंने एक अत्यन्त मौलिक बात सोची—क्यों न हिन्दुओं में प्रचलित या अर्धकल्पित कथाओं को इस प्रकार लिखा जाय कि उनमें सूफ़ी धर्म का सन्देश भर जाये। नये मुसलमानों में इस प्रकार के ग्रन्थों के प्रचार की बड़ी आशा थी। परन्तु जब अत्यन्त भावुक हृदय सूफ़ी कवि लिखने बैठे तो प्रचार ग्रन्थ से अधिक लिख गये। हिन्दी सूफ़ी काव्य के रचयिताओं का मूल ध्येय न काव्य रचना था, न हिन्दी की सेवा करना। अपने काव्य के द्वारा वे हिन्दू जनता तक इस तरह पहुँचना चाहते थे कि वे उस पर प्रभाव डालते थे। प्रसङ्गवश वे हिंन्दी भाषी नवीन मुसलमानों के लिए साहित्य भी रच रहे थे। सूफ़ियों ने धर्म-परिवर्तन के बवण्डर में तटस्थता से काम नहीं लिया था, अतः यह स्पष्ट है कि वे अपने काव्यों द्वारा हिन्दुओं के प्रति अकारण सहानुभूति नहीं दिखा रहे थे। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि सूफ़ी कवियों ने हिन्दी साहित्य के भाण्डार में सुन्दर वृद्धि की है। इस प्रकार की रचना न उर्दू सूफ़ी साहित्य में है, न फारसी सूफ़ी साहित्य में। दूसरे वर्ग में वे सहृदय मुसलमान कवि आते हैं जिन्हें मध्ययुग के राधा कृष्ण-भक्ति के वातावरण ने प्रभावित किया जैसे रसखान, सुजान, आलम। उनके साहित्य के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि वह भक्ति-साहित्य से भी उतने ही प्रभावित थे जितने मधुर भक्ति से। ये प्रेमी जीव थे।

तीसरे वर्ग के कवि मुख्यतः साहित्य-परम्परा से प्रभावित हुए, विशेष-कर रीति-परंपरा से और उन्होंने इस साहित्य में अपनी रचनाओं द्वारा योग दिया। रहीम ने सतसई, बरवै, शृङ्गार-सोरठ, मदनाष्टक आदि कविता-ग्रन्थों की रचना की। पठान सुलतान ने बिहारी सतसई पर कुण्डलियाँ लिखीं। इस वर्ग के कवियों की ही संख्या सबसे अधिक है। रीतिकाल में जिस साहित्य का सृजन हुआ उसकी शृङ्गारभाव और अभिव्यक्ति की बङ्किम शैली से मुसलमान फ़ारसी काव्य द्वारा पहले ही परिचित थे, अतः शृङ्गार मूलक रीति साहित्य के रूप में उन्हें प्रकृत क्षेत्र मिल गया। चौथे वर्ग के कवि विनोदी जीव थे। उनकी तबियत सैलानी थी। वे फ़ारसी और उर्दू साहित्य के कवि थे, मन-बहलाव के लिए हिन्दी में भी उछल-कूद मचा देते थे; रङ्गीन तबियत ही जो ठहरी। इनकी कविता और गद्य में जो रङ्ग है वह सारे हिन्दी साहित्य में नहीं मिलेगा। अमीर ख़ुसरू इसी वर्ग के कवि हैं। पाँचवे वर्ग में वे मुसलमान कवि हैं जिन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य से प्रेम होने के कारण ही हिन्दी के भाण्डार को भरा है। इस वर्ग के लोग बहुत थोड़े हैं, उन्होंने कोई विशेष महत्व का काम भी नहीं किया परन्तु इनके प्रति हमें विशेष कृतज्ञ होना चाहिये। ये हमारी पंगत के ही आदमी हैं।

आकार-प्रकार और वैभिन्न्य की दृष्टि से मुसलमानों की हिन्दी रचनाएँ किसी प्रकार भी विदेशी नहीं जान पड़तीं। वे सम्पूर्णतः हिन्दी की चीज़ हैं और उन्होंने हिंदी काव्य को गौरवान्वित किया है। संख्या की दृष्टि से मुसलमान लेखक दो शतक से ऊपर पहुँच सकते हैं, परन्तु उनमें ऐसे थोड़े ही हैं जिनका हिन्दी साहित्य में स्थान बन सका है। सूफ़ी काव्य को तो हिन्दी काव्य में अपना एक अलग स्थान है ही। कृष्ण काव्य में रसखान को नहीं भुलाया जा सकता जिनका—

"मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन

जौ पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो कर क्षत्र पुरन्दर कारन
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन"

—छंद भक्ति-भावना में पुष्टिमार्ग के कवियों के काव्य से टक्कर ले सकता है। रीतिकाव्य में रहीम, आलम, रसखान और पठान सुलतान का अपना-अपना निश्चित स्थान है। इनमें रहीम सबसे महत्वपूर्ण है। अमीर ख़ुसरो और इंशाअल्ला खाँ क्रमशः खड़ी पद्य और गद्य के आदिम काल में लिख रहे थे। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी इनका मूल्य कम नहीं है। यदि हमें इनमें से भी चुनना पड़े तो हम जायसी, रहीम और रसखान को ही चुनेंगे। हिन्दी प्रदेश में मुसलमानों की जितनी संख्या है, उसे देखते हुए यह सेवा कम नहीं है।

यदि मुसलमानों ने हिन्दी काव्य की अधिक सेवा नहीं की तो उसके कारण भी हैं। उर्दू के रूप में उनका एक अलग साहित्य बराबर बनता रहा है। भाषा, शब्द कोष, व्याकरण बहुत कुछ खड़ी बोली हिन्दी से अभिन्न है, परन्तु उस साहित्य की आत्मा मुसलमानों की संस्कृति के समीप पड़ती है। अब तक फ़ारसी राजभाषा रही है और उसके नाते मुसलमानों ने उसे अपनी निजी भाषा समझा है। उर्दू को उन्होंने फ़ारसी के स्थान पर खड़ा किया और अब धीरे-धीरे उर्दू ही उनके धर्म, संस्कृति और साहित्य की भाषा हो गई है। यह भाषा फ़ारसी लिपि में ही लिखी जाती है, अतः उसके साहित्यिक फ़ारसी भाषा और साहित्य से बहुत कुछ उधार ले लेते हैं और भारतवर्ष की संस्कृति, प्रकृति और जनभावना की ओर से आंखें मूँद लेते हैं। लिपि और भाषा का सम्बन्ध बहुत गहरा होता है। बङ्गाल प्रभृति प्रांतों में जहाँ मुसलमानों ने वहाँ की लिपियों को अपना लिया, मुसल-

मानों के साहित्य में बङ्गाल प्रदेश और जनता की ही भावनाएँ भरी गई हैं। हिन्दी प्रदेश में ऐसा नहीं हो सका। फल यह हुआ कि हिन्दी के प्रति मुसलमानों का कोई अपनत्व नहीं रहा और उन्होंने हिन्दी की जो कुछ सेवा की वही बहुत मानी जानी चाहिए।

एक दूसरे प्रकार की सेवा भी हिन्दी सेवा मानना पड़ेगी। हमारा संकेत मुसलमान आश्रयदाताओं द्वारा की गई हिन्दी की सेवा से है। समस्त मध्ययुग में मुसलमान बादशाह और रईस फ़ारसी कवियों के साथ हिन्दी के कवियों को भी आश्रय देते गये। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी का सम्मान ही नहीं किया, उसकी परम्परा की भी रक्षा की। इन आश्रयदाताओं में हुमायूँ (क्षेत्र बन्दीजन), अकबर, (गङ्ग, नरहरि, करण, होल, ब्रह्म, अमृत, मनोहर आदि), दारा (बनमालीदास), शाहजहाँ (कवीन्द्र, सुन्दर), पठान सुल्तान (चन्द्र कवि), फ़ाजिल अली शाह (सुखदेव मिश्र), आसिफुद्दौला (गिरिधर राय) विशेषसम्मान योग्य हैं। हिन्दी के कवियों ने रहीम ख़ानख़ाना, अकबर, दारा आदि से इतना इनाम-इकराम पाया है जितना शायद ही किसी उर्दू या फारसी कवि को मिल सका हो। नवाब ख़ानख़ाना अब्दुल रहीम (रहीम) को एक बार गङ्ग कवि ने एक छप्पय सुनाया था। आपने प्रसन्न होकर एक दो नहीं, छत्तीस लाख रुपये दे डाले। वह छप्पय यह था—

"चकित भँवर रहि गयो गंवन नहि करत कमल तन
अहि फनि मनि नहिं लेत तेज नहिं बहत पवन घन
हंस मानसर तज्यो चक्क-चक्की न मिलै अति
बहु सुन्दर पद्मिनी पुरुष न चहै न करै रति
खलभलित शेष कवि गंग मनि रमित तेज रवि रथ खस्यो
खानखान बैरम सुवन जि दिन क्रोध करि तन करयो"

हम यह नहीं मानते कि राजाश्रय ने हिन्दी को कोई महान् कवि

दिया, परंतु हम यह अवश्य कह सकते हैं कि उसने हिन्दी साहित्य की वृद्धि कराई और उसके प्रोत्साहन ने हिन्दी के साहित्यिकों को बल दिया।

आधुनिक कविता का इतिहास खड़ी बोली की कविता का इतिहास है। यह इतिहास बहुत पुराना नहीं है यद्यपि खड़ी बोली 'भाषा' का विकास शौरसेनी प्राकृत से दसवीं शताब्दी के लगभग हुआ। हिन्दी खड़ी बोली का पहला कवि अमीर खुसरो माना जाता है जिसका समय तेरहवीं शताब्दी है परन्तु उसकी कविता का जो रूप हमें मिलता है वह बाद में परिष्कृत किया जान पड़ता है। चौदहवीं शताब्दी में हमें गोरखनाथ के किसी मतावलम्बी का ग्रन्थ 'काफ़िर बोध' मिलता है जिसमें हिन्दू मुसलमान में मेल स्थापित करने की भावना काम कर रही है। इसके बाद एक शताब्दी पश्चात् से हमें इस कविताधारा के दर्शन होते हैं जिसे सन्तकाव्य का नाम दिया गया है। यह काव्य खड़ी बोला में ही है, यह निर्विवाद है, यद्यपि सन्तों के पर्यटन-प्रिय होने के कारण अनेक भाषाओं के रूप भी इसमें मिलते हैं। अठारहवीं शताब्दो के अन्त तक सन्तकाव्य के रूप में खड़ी बोली चलती रही यद्यपि ब्रज और अवधी के साहित्य को ही अधिक प्रश्रय मिला।

खड़ी बोली का वर्तमान युग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से आरंभ होता है। उस समय तक खड़ी बोली गद्य में काम आने लगी थी। भारतेन्दु जी के नाटकों में खड़ी बोली की कविताओं का प्रयोग हुआ यद्यपि उनका मत था कि कविता के लिए खड़ी बोली उपयुक्त नहीं है। भारतेन्दु के परवर्ती युग में खड़ी बोली कविता की कुछ प्रयोगात्मक रचनाएं हुईं परन्तु उनका अर्वाचीन विकास द्विवेदी युग में हुआ। इस समय सन्त-युग से आती हुई काव्य-धारा से इसकी लड़ी का मेल बिठाने की चेष्टा नहीं की गई। इसके विकास में द्विवेदी जी और श्रीधर पाठक का हाथ मुख्य

था। प्रारम्भिक रूप होने के कारण इसमें कर्कशता की मात्रा अधिक थी। उसके भावपक्ष में कोई विशेषता नहीं थी। उसका रूप इतिवृत्तात्मक था और भावना नीतिपरक। द्विवेदीकाल के कवियों ने मात्रिक और वर्णवृत्त दोनों प्रकार के छन्दों में रचना की। उन्होंने संस्कृत के ढङ्ग पर अतुकांत कविता भी लिखी। इनका अधिक प्रयत्न भाषा को माँजने में रहा। इस स्कूल के सबसे बड़े कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं जिन्होंने भाषा की सफ़ाई के साथ हिन्दू संस्कृति को भी समाज के सामने रखा। उन्होंने अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं को कल्पना से पुष्ट करने का अपने काव्य का विषय बनाया।

द्विवेदी युग के बाद हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक नई शैली का जन्म हुआ। इसमें कला की मात्रा प्रचुर थी। दिशाएं भी अनेक थीं परन्तु दृष्टिकोण की विभिन्नता भी थी। भाषा में अधिक स्वतंत्रता से काम लिया जाने लगा, विशेष कर उसकी लक्षणा शक्ति से। कवि अंग्रेज़ी और बंगला काव्य से प्रभावित हुए और उन्होंने एक प्रकार की मूर्तिमत्ता को जन्म दिया। यह शैली छायावाद या रहस्यवाद के नाम से पुकारी गई। कवियों ने वाह्य-जगत् के सुन्दर चित्र तो दिए ही परन्तु उनकी दृष्टि विशेष रूप से अन्तर्प्रदेश की ओर गई। कल्पना, भावना और सूक्ष्म मनोभावों के साम्राज्य में वे विचरने लगे।

आज हिन्दी की खड़ी बोली की कविता सभी सूक्ष्म मनोभावों के प्रगट करने में समर्थ है। अनेक महाकाव्यों की सृष्टि हुई है। हमारी कविता आज राष्ट्रीय और सामाजिक अनेक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त कर रही है। वह भारत की आत्मा के निकट है। नवीन अलंकारों और नूतनतम कला-विधानों के भीतर से कवियों ने भारती की मूर्ति के दर्शन किए हैं और उसे 'पत्रं-पुष्पम्' समर्पित किये हैं।

२

सिद्ध-काव्य

हिन्दी भाषा और उसके जन्म एवं विकास के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। शौरसेनी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रन्श और फिर अवहट्ठ के रूप में जो एक सामान्य भाषा गुप्तकाल से विद्यापति के समय तक मध्यदेश में जनसाधारण में व्यवहार में आती रही, आधुनिक हिन्दी की अनेक विभाषाएं उसी का विकसित प्रादेशिक रूप मानी जाती हैं। विद्वानों का कहना है कि लगभग १३०० – १४०० ई० के बीच में हिन्दी भाषा का जन्म हुआ और खुसरो, कबीर और सूरदास ने सबसे पहले खड़ी बोली, पूर्वी (अवधी) और ब्रजभाषा के रूप में हिन्दी की तीन व्यापक विभाषाओं का प्रयोग किया। परन्तु इन तीनों कवियों की काव्य-भाषा अत्यन्त पुष्ट मिलती है। लगता है कि इनसे २०० वर्ष पहले से हिन्दी की भिन्न-भिन्न बोलियों का जन्म होगया होगा। सम्भव है, १००० ई० के लगभग गोरखनाथ और अन्य नाथ-पंथी साधुओं ने पहली बार जनसामान्य की भाषा (प्राचीनतम हिन्दी) का प्रयोग किया हो। इन साधुओं की जो कविताएं आजकल प्राप्य हैं, उनकी भाषा १६वीं शताब्दी से पहले की नहीं है, यद्यपि अनेक प्राचीन रूप बराबर मिलते हैं।

सिद्ध-काव्य गोरखपंथी रचनाओं से भी पुराना है। श्री राहुल सांकृत्यायन सरहपा को सिद्ध-काव्य का आदि कवि मानते हैं और उनका समय ७५० ई० के लगभग निश्चित करते हैं। उनके अनुसार सिद्ध-काव्य की धारा ७५० ई० से १००० ई० तक चली। लगभग सौ

वर्ष बाद (८५०ई० के लगभग) गोरखनाथ द्वारा एक नई धारा का प्रवर्तन हुआ। गोरखनाथ पहले 'सिद्ध' ही थे, परन्तु बाद में बौद्ध अनात्म-वाद के स्थान पर शैव आत्मवाद की स्थापना कर और योग की साधना को स्वीकार कर उन्होंने अपने लिये एक नई लीक स्थापित की। सिद्ध कवियों का सम्बन्ध नालन्दा विश्वविद्यालय से है, और उन्होंने इसी प्रदेश की प्राचीन मगही (मागधी) भाषा का प्रयोग किया है। आधुनिक मैथिली और मगही हिन्दी की ही विभाषायें मानी जाती हैं। अतः सिद्ध-काव्य को हिन्दी साहित्य की अन्तर्धारा ही माना जायगा। जहां तक विचारधारा का सम्बन्ध है, सिद्ध-काव्य गोरखनाथ और कबीर के काव्य की विचारधारा का ही श्रीगणेश करता है। उसकी विचारधारा हिन्दी परिवर्ती काव्य में ही विकसित हुई है।

सिद्ध कवि अनात्मवादी हैं। परन्तु उन्होंने आत्मवादी योग-साधना की अनेक बातें अपना ली हैं और योग की अनेक बातों को अपने ढङ्ग पर विकसित किया है। रवि-शशि, बंकनालि, काया में अवस्थित चिदात्म, गगन (आकाश) मंडल, चित्त-निरोध, पवन-निरोध इत्यादि अनेक योग के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग सिद्ध-काव्य में भी हुआ है। बाद में यह पारिभाषिक शब्दावली बहुत कुछ नये अर्थों के साथ नाथ और संत काव्य में भी व्यवहृत हुई। नीचे हम सिद्ध-काव्य की विचारधारा को संक्षेप में उपस्थित करेंगे।

(१) ईश्वर निर्गुण और अनिर्वचनीय—

आवत न दीसै जात नहिं, होवत नहि जानी जै
निक्तरंग परमेश्वर, निष्कलंक जानी जै

(२) पिंड में ब्रह्मांड

जिमि बाहर तिमि अभ्यन्तर। चौदह भुवने थितउ निरन्तर॥
अशरिर कोइ शरीरे लूकेउ। जो तेंहि जानेउँ सो तहँ मुंचेउ॥

(३) कायानिष्ठ ईश्वर (बुद्ध)

पण्डित सकल शास्त्र बक्खानै। देहहिं बुद्ध बसंत न जानै ॥

(४) शून्यवाद

अद्वय-चित्त तरूवरा, गउ त्रिभुवन विस्तार
करुणा फूली फल धरइ, ना परत्र उपकार ॥
शून्य तरूवर फूलेऊँ, करुणा विविध विचित्र ।
अन्या भोग परत्र फल, एँहू सौख्य पर चित्त ॥
शून्य तरूवर निष्करुण जेहि पुनि मूल न शाख ।
तहँ अलमूला जो करै, तासुइ माँगै वाह ॥

(५) सहज मार्ग

नाद न बिन्दु न रवि-शशि-मंडल। चित्ता राग स्वभावे मुंचल ॥
ऋजु रे ऋजु छाडि ना लेहु वंक। नियरे बोधि न जाहु रे लंक ॥
हाथेइ कंकण ना लेहु दपण। अपने आपा दूसहु निज मन ॥

× × × ×

मंत्र न तंत्र न ध्येय न धारण। सर्वहु मूढ़ रे! विभ्रम कारण ॥
निर्मल चित्त न ध्याने खींचहु। शुभ अछते न आपन झगड़हु ॥

(६) रहस्यवाद (निर्वाण सुख की अलौकिकता और अनिर्वचनीयता)

अलिओ। धर्म महासुख प्रविशइ ।
नोन जिमी पानिहीं विलिज्जइ ॥

× × × ×

ना सो वार्चाहिं गुरु कहइ, ना सो बूझइ शिष्य ।
सहजामृत-रस सकल जग, कासु कहीजै कस्य ॥
स्वक-संवित्ती तत्त्व फल, सरहापाद भनन्ति ।
जो मन-गोचर पाइअइ, परमार्थ न होन्ति ॥

(७) वेद, ब्राह्मण, बाह्याचार इत्यादि की अनुपादेयता,

ब्राह्मणहिं ना जानन्ता भेद । यों ही पढ़ेउ ये चारों वेद ॥
माटि पानि कुश लिये पढ़न्त । घरहीं बइठी अग्निहोमन्त ॥
कार्य बिना ही हुतबह होमें । आँखि डहावै कडुये धूयें ॥
एक दण्डि त्रिदण्डी भगवा वेसे । न होइहि बिनु हस-उपदेसे ॥
मिथ्यहि जग बाहेऊ भूले । धर्म अधर्म न जानेउ तुल्ये ॥

ऊपर जो उद्धरण दिये गये हैं, उनसे सिद्ध-साधकों की विचार-धारा की एक अच्छी रूपरेखा तैयार की जाती है। यह स्पष्ट है कि प्रचलित महायान-विचारधारा से यह विचारधारा भिन्न है। महायान में तंत्र-मंत्रों पर विशेष आस्था थी और बुद्ध, प्रज्ञापारमिता, अवलोकितेश्वर इत्यादि अनेक देवी-देवताओं की पूजा-उपासना बड़े समारोह के साथ होने लगी थी। मूर्तिवाद का पहला व्यापक प्रयोग महायानी बौद्धों द्वारा ही हुआ। जान पड़ता है, सिद्धों ने महायान के इस मूर्तिवाद का विरोध किया। उनके लिए बुद्ध और शून्यतत्व में कोई भेद नहीं है। यह बुद्ध (शून्य) निर्गुण, निर्लेप और अनिर्वचनीय है। यह देह में ही निवास करते हैं। यही निर्गुण बुद्ध-तत्व सारे संसार में व्याप्त है। बेद, ब्राह्मण, मूर्ति, खंडन-मंडन और ध्यान-धारणा एवम् वेश-भूषा इन प्रगतिशील साधकों ने विरोध किया और एक सामान्य मानव-संस्कृति के निर्माण की चेष्टा की। उनके अनुसार निर्वाण स्वयं-संवेद्य है। यह न गुरु से पाने की चीज़ है, न इसके सुख का ही वर्णन किया जा सकता है। जब मन परमतत्त्व (बुद्ध) में इस तरह लीन हो जाता है जैसे पानी में नमक तब यह स्वयं-संवेद्य अनुभव प्राप्त होता है।

परन्तु ध्यान-धारणा इत्यादि योग साधनों की असार्थकता बताते हुए भी सिद्ध कवि-साधक अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका योग-साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु उनकी

साधारण मनोभावना योग की कठिन तप-साधना को अवांछनीय बता कर एक मध्यमार्ग (कमल-कुलिश साधना = सहज मार्ग) की योजना करते हैं। जो हो, यह निश्चित है कि इन साधकों पर औपनैषदिक आत्मवाद और योग का प्रभाव था और इन्होंने महायानी भक्ति-भावना के समकक्ष एक नया योग-आत्मवादपरक निर्गुण मतवाद स्थापित किया था जिसमें स्वानुभूति पर अधिक बल था।

इन सिद्ध-सन्तों के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य में कई भ्रान्तियां चल रही हैं। इन्हे वाममार्गी और पञ्च मकारों का सेवी बताया जाता है। परन्तु वास्तव में यह दृष्टिकोण सिद्धों के प्रति अन्याय करता है। महानिर्वाण के सुख (महासुख) के आनन्द को समझाने के लिए और उसकी अलौकिकता के दिखाने के लिए सिद्धों ने रति-वारुणी और अभक्ष्य-भक्ष्य के रूपकों का प्रचार किया। कालान्तर में रूपकार्थ का लोप हो गया और सिद्ध वाममार्गी बन गये। सहज साधना के सम्बन्ध में जब कवि कहता है—

कमल-कुलिश दोउ मध्य थित, जो सो सुरत-विलास।
को तेहि रमै न त्रिभुवने, कासु न पूरै आस॥

या

अक्षर वर्ण परम गुण रहिए। भनह न जानह अहसे कहिये॥
सो परमेश्वर कासों कहिए। सुरतकुमारी जिमि पतिऐहे॥

तो हम उदाहरण की उपयोगिता पर तो विचार नहीं करते, उसके स्थूल अर्थ पकड़ कर उड़ जाते हैं। इसी तरह

सहजे थिर करि वारुणी साध

से हम सिद्धो को वारुणी (मदिरा) का भक्त समझ लेते हैं। फिर भी इसमें सन्देह नही, कि गुह्यभावना के कारण कालान्तर में सिद्ध-विचार-धारा कलुषित हो गई और उसके अमिताचार के विरोध में शैव नाथों का एक नया सम्प्रदाय ही खड़ा हो गया।

३

नाथ-काव्य

नाथ-विचारधारा के सबसे प्रधान कवि—और इस धारा के प्रवर्तक—गोरखनाथ हैं। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखवाणी' के रूप में इनके साहित्य का संग्रह सुसम्पादित रूप में उपस्थित कर दिया है। इससे हमें इस विचारधारा को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

जान पड़ता है, गोरखनाथ कभी बौद्ध थे। सिद्धों में उनकी भी गणना होती है। आदिनाथ (जालन्धरनाथ या जालन्धरपा), मत्स्येन्द्र-नाथ और गोरखनाथ—इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा चलती है। स्पष्ट है कि जालन्धरनाथ के समय से बौद्ध सिद्ध विचारधारा में कोई क्रांति शुरू हुई होगी। कदाचित् गुह्य और अनात्मवाद का विरोध जालन्धरनाथ ने किया हो, मत्स्येन्द्रनाथ ने इस विरोध की रूपरेखाएँ और स्पष्ट कीं और गोरखनाथ सिद्धों से सम्पर्क तोड़कर एक नई विचारधारा के प्रवर्तक हो गये। ९वीं-१०वीं शताब्दी में राजपूतों के रूप में एक नई राजनैतिक शक्ति ने भारतवर्ष के रंगमंच पर प्रवेश किया था। कदाचित् राजनैतिक कारणों से शैव-विचारधारा को विशेष बल प्राप्त हुआ और इसके फलस्वरूप पूर्वी हिन्दी प्रदेश में सिद्धों की बौद्ध विचारधारा की शक्ति का ह्रास होने लगा।

नाथपन्थी आत्मवादी हैं। वह शिव के उपासक हैं। साधना के रूप में योग की क्रियाएं, प्राणायाम, धारणा-ध्यान इत्यादि और षड-चक्र-भेद उन्हें प्रिय हैं। जहाँ सिद्ध केवल कुछ यौगिक क्रियाओं और

योग के पारिभाषिक शब्दों को लेकर चलते हैं, वहाँ गोरखनाथ योग की सारी साधना और सारी शब्दावली को ग्रहण कर लेते हैं। नाथ-पन्थ विशुद्ध रूप में योग-धारा को हमारे सामने उपस्थित करता है। केवल योग के मूलतः अनात्मवाद के स्थान पर आत्मवाद और शिव-शक्ति के रूपक को स्वीकार कर लिया गया है।

योगियों के अनेक बाह्याडम्बर थे। थोड़े ही दिनों में सारे भारत में अनेक योग-पीठ स्थापित हो गये और इन योगियों के चमत्कार की कथाओं से आकर्षित हो जनता इनके प्रति भक्ति की भावना रखने लगी। जब ११वीं शताब्दी में मुसलमानों के आक्रमण हुए तो सारा पंजाब और राजस्थान योगियों के केन्द्रों से भरा पड़ा था। इस्लामी सूफ़ी सन्तों ने इन योगियों से बहुत कुछ सीखा। बौद्ध नास्तिक थे। इसलिये मुसलमानों का प्रहार उनके ऊपर विशेष रूप से हुआ और ११९१ ई० में बख्तियार खिलजी ने नालन्दा के विश्वविद्यालय को ध्वस्त कर दिया। बौद्ध पंडित और सिद्ध साधक उत्तर के हिमालय की दुर्गम पर्वतमालाओं को लाँघ कर तिब्बत पहुँच गये। सिद्धमत के परिवर्ती विकास के लिए हमें भारतभूमि छोड़कर उत्तर की ओर जाना होगा।

अब उत्तर भारत में सबसे सङ्गठित धार्मिक सम्प्रदाय योगियों (नाथपंथियों) का ही रह गया। लगभग चार शताब्दियों तक इनका अखण्ड राज्य था। परन्तु फिर इस्लामी सूफ़ी (प्रेम-भावना) और वैष्णव धर्म-भावना ने योगियों को प्रभावित करना आरम्भ किया और लगभग एक शताब्दी तक यह प्रक्रिया चलती रही। कबीर से सन्त धारा का प्रवर्तन होता है। रामानन्द कबीर के गुरु थे और राघवानन्द रामानन्द के गुरु। राघवानन्द की एक हिन्दी कृति 'सिद्धान्त पंचमात्रा' उपलब्ध है। इसमें स्पष्ट ही योग और सन्त मतवाद का सामञ्जस्य है। राघवानन्द और रामानन्द की रचनाओं के अध्ययन

से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालान्तर में योग धारा ही सन्तधारा का रूप ग्रहण कर लेती है। नाथपन्थ में हठयोग की प्रधानता थी। कबीर पर कम-से-कम प्रारम्भिक दिनों में इस हठयोग का पूरा प्रभाव था। बाद में उन्होंने केवल धारणा, ध्यान, समाधि आदि को स्वीकार किया और चक्रभेदन की ओर से दृष्टि हटा ली, परन्तु उन्होंने कितने ही पदों में कितनी ही बार कुण्डलिनी, इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि के सहारे नाद (अनहद) सुनने की रीति बताई है और श्वास-निरोध एवं चक्रभेद का अनुभूतिपूर्ण उत्साहमय वर्णन किया है। यही नहीं, उनके पदों में हठयोग के सारे सांकेतिक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे उनकी वाणी साधारण जनता के लिए रहस्यमयी हो गई। हठयोग की साधन-प्रक्रियायें ही इन पदों की कुञ्जी हैं। यदि हम नाथपंथ और कबीर के सिद्धान्तों की तुलना करें तो बहुत कुछ साम्य मिलेगा—

(१) योगी शिवाद्वैत को और आगे बढ़ाकर चिन्मय सत्ता को "द्वैताद्वैत विकल्पना" (द्वैताद्वैत विलक्षण) कहते हैं। कबीर ने भी कहा है कि एक कहता हूँ तो झूठ है, दो कहता हूँ तो पाप है। वह तव जैसा है, वैसा रहे।

(२) इस द्वैताद्वैत से परे की सत्ता को "नकारात्मक" परिभाषा में ही बताया जा सकता है। योगी कहता है—

न ब्रह्मा विष्णु रुद्रौ न सुरपति सुरा नैव पृथ्वी न चापौ
नैवाग्निर्नापि वायुर न गगनतलं नौ दिशौ नैव काल:
नौ वेदा नैव संज्ञा न च रवि-शशिनौ नौ विधिर्नैव कल्प:
स्व ज्योति: सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्द मूर्ते ॥

[सिद्धसिद्धान्त-पद्धति]

इसे ही कबीर यों कहते हैं—

राम निरंजन न्यारा रे अंजन सकल पसारा रे
अंजन उत्पति ओ ओंकार, अंजन माँड्या सब विस्तार
अंजन ब्रह्म-संकर-इंद्र, अंजन गोपी सँगि गोविन्द
अंजन वाणी अंजन वेद, अंजन कीया नाना भेद
अंजन विद्या-पाठ-पुराण, अंजन फोकट कथहि गियान
अंजन पानी अंजन देव, अंजन की करै निरंजन सेव
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेस अनन्त दिखावै
अंजन कहौं कहाँ लग केता, दान मुनि-तप तीरथ जेता
कहै कबीर कोई बिरला जागै, अंजन छाडि निरंजन लागै

(३) दोनों अनुभूति को प्रधानता देते हैं, शास्त्र ज्ञान को महत्व-पूर्ण बताते हैं।

(४) दोनों आश्रम और वर्णव्यवस्था के कायल नहीं हैं। दोनों स्मार्त विचारों के विरोधी हैं। दोनों पौराणिक देवताओं और अवतारों में विश्वास नहीं करते—उनकी हँसी उड़ाते हैं।

(५) दोनों परम नाद या परमबिन्दु से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। षट्चक्र और उनके द्वारा "अनहद नाद" की साधना दोनों में है।

परन्तु दोनों में जो भेद हैं उन्हें भी समझ लेना बुरा नहीं है। ये भेद भी महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) अवधूत (योगी) का लक्ष्य मुक्ति है, साधना है चक्रभेद या हठयोग। कबीर का लक्ष्य भी मुक्ति है परन्तु उसमें जीवात्मा के अस्तित्व का एकदम नाश नहीं हो जाता, वह साक्षीभूत रहता है। रामानन्द से प्रभावित होने के बाद कबीर ने भक्ति को ही साधन-रूप

में प्रधानता दी है। योगमत में इस प्रकार की भक्ति के चिन्ह भी नहीं हैं।

हठयोग में आसनों, मुद्राओं आदि की बड़ी महत्ता है, परन्तु कबीर ने इन्हें अस्वीकार किया है। वह गौण के पीछे पड़ना नहीं चाहते।

(३) योगी गार्हस्थ्य वर्जन और कार्य त्याग पर बल देते हैं। यद्यपि दूसरी बात कबीर को ग्राह्य है, परन्तु इस हद तक नहीं। पहली बात को वह ज़रा भी नहीं मानते। इसके अतिरिक्त कबीर ने (या उनके बाद कबीर पंथ ने) चक्रों की संख्या में भी वृद्धि की है और उनके आधार पर नवीन-नवीन लोकों की प्रतिष्ठा की है। इस प्रकार अध्यात्म-साधना को और भी विशद बनाया गया है। परन्तु यह सब कदाचित् कबीर के बाद का विकास है जिसके लिये कबीर को जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता।

परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि कबीर केवल मात्र योग-परंपरा के पोषक थे। उन्होंने इस साधना को अत्यन्त निकट से देखा था, स्वयं परखा था। इसके अनेक प्रमाण हैं।

जो हो, यह निश्चित है कि योगधारा का प्रवर्तन कुछ असन्तुष्ट सिद्धों द्वारा हुआ और मुसलमानों के आक्रमण के समय यह धारा अत्यन्त शक्तिशाली थी। लगभग ५०० वर्ष तक इस विचारधारा ने हिन्दी क्षेत्र पर एकाधिकार बनाये रखा। सन्त मतवाद इसी धारा का समयानुकूल विकसित रूप है। पद्मावत (१५४० ई०) में हठयोग (नाथपंथ) की साधना को विस्तृत रूपक के रूप में ग्रहण किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों और सूफ़ियों ने इस धारा को कुछ अंशों में ग्रहण कर लिया। परन्तु वैष्णव रामकृष्णभक्तिधारा में व्यापक रूप से इसका विरोध हुआ। कृष्ण कवियों के भ्रमर गीत

योग की खिल्ली उड़ाते हैं और प्रेमासक्ति प्रधान भक्ति-भाव की तुलना में इसे अत्यन्त कठिन, अतः अग्राह्य, समझते हैं। यह निश्चित है कि १७वीं शताब्दी तक योगियों के बड़े-बड़े अखाड़े थे और जनता में उनका उससे कहीं अधिक मान था, जितना आज है। कालान्तर में वैष्णव भक्तिभावना ने उस पर विजय प्राप्त कर ली और शिव का स्थान विष्णु के अवतारों (राम-कृष्ण) ने ले लिया। हिन्दी साहित्य के इतिहास में गुरु गोरखनाथ वा उनके पंथवालों की रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके पदों व सब्दियों की रचना का समय बौद्ध सिद्धों के प्राचीन दोहों व चर्यागीतियों के प्रायः पीछे तथा सन्तों के शब्दों एवं साखियों के बहुत पहले आता है। तदनुसार यदि आज तक की इनकी सभी उपलब्ध रचनाओं का एक साथ तुलनात्मक अध्ययन कर उसपर विचार किया जाय तो, इनके विषय, भाषा व रचना शैली में एक विचित्र साम्य दीख पड़ेगा और जान पड़ेगा कि लगभग एक ही प्रकार की विचारधारा व परम्परा का क्रमिक विकास बहुत काल तक निरंतर होता गया। उदाहरण के लिए, मनोमारण या चित्तशुद्धि, सहजभाव वा सहजानुभूति, पिंडपना-विरोध व स्पष्ट-वादिता की झलक प्रायः सर्वत्र ही एक-सी दिखलाई पड़ती है तथा रूपकों व उलटबाँसियों द्वारा उपदेशों व सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण का निराला ढङ्ग भी बराबर लक्षित होता रहता है। इसके सिवा कबीर साहब आदि कई सन्त गुरु गोरखनाथ के प्रति न्यूनाधिक श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए भी जान पड़ते हैं, और उन्होंने कई स्थलों पर इनके भावों, शब्दों व वाक्यांशों तक को ज्यों का त्यों अपनाया है। गुरु गोरखनाथ या उनके पन्थ के प्रभावों से हिन्दी के प्रेममार्गी सूफ़ी कवि भी अछूते नहीं, और हम देखते हैं कि जायसी ने (पद्मावत) में राजा रतनसेन को योगी का रूप देते व सिंहलगढ़ को कायागढ़ सा वर्णन करते समय भी नाथपन्थ के ही आदर्शों वा पद्धतियों का स्पष्ट अनु-

-सरण किया है तथा एक प्रकार से उन्हीं के आधार पर अपना परि-णाम तक निकाला है।

"गुरु गोरखनाथ का पन्थ प्रसिद्ध षट्दर्शनों का सार-भाग लेकर चला है। उसके प्रवर्तक का इस बात में पूर्ण विश्वास है कि आत्मा की खोज में कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं, वह अपने भीतर—काठ के भीतर—अग्नि, बीज के भीतर पुष्प एवं पुष्प के भीतर गन्ध की भाँति व्याप्त व अंतर्निहित है। उन्होंने प्राचीन हठयोग-पद्धति की अनेक बातों को स्वीकार करते हुए भी, उसकी बहुत सी क्रियाओं का अधिकतर लाक्षणिक अर्थ ही लगाया है और स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि केवल बाह्य बातों में न पड़ कर हमें आत्मचिन्तन की ओर ही विशेष ध्यान देना चाहिये। इसके सिवाय उन्हें बाह्य-बिडम्बनाओं के प्रति बड़ी घृणा है। वे कल्पित देवी देवताओं की आराधना के प्रति अश्रद्धा तथा वर्ण विभेद व साम्प्रदायिक संकीर्णता के प्रति घोर विरोध प्रदर्शित करते हुए और ब्रह्मचर्य, आत्मसंयम व युक्ताहार विहारादि में अटूट विश्वास रखते हुए दीख पड़ते हैं।" (गोरखबानी, प्रकाशक का वक्तव्य, रामचन्द्र टंडन, पृ० ५—७)

गोरखनाथ और नाथपन्थ के अन्य साधकों की वाणी में काव्या-त्मकता अधिक नहीं है। वे केवल सत्य के प्रचारक हैं। सीधी-सादी सरल हृदय की भाषा में तत्त्व को तत्त्व के रूप में रख देना ही उनकी साधना है, परन्तु कहीं कहीं उदाहरणों, दृष्टान्तों और रूपकों के रूप में वे अपनी रचनाओं में श्रेष्ठ काव्य गुणों का भी समावेश कर सके हैं। उदाहरण के लिए यह पद लीजिये—

तत बणिजी ल्यौ, तत बणिजी ल्यौ,
ज्यूँ मोरा मन पतियाई ॥ टेक ॥
सहज गोरखनाथ बणिज कराई, पंच बलद, नौ गाई।

सहज सुभावै बाखर ल्याई, मोरे मन उड़ियानी आई ।।
सुरहट हाट अम्हे वणिजारा, सुनि हमारा पसारा।
लेण न जाणों देण न जाणों, एहा वणज हमारा ।।
भणंत गोरखनाथ मछिन्द्र का पूता, एहा वणिज न आथी।
करणीं अपणीं पार उतरणां, बचने लेणां साथी ।।

तत्त्व का इस प्रकार वाणिज्य करो कि मेरे मन में विश्वास हो जाय कि खरा वाणिज्य है। गोरखनाथ सहज ज्ञान का वाणिज्य करते हैं। पाँच (ज्ञानेन्द्रियां के) बैल हैं और नव (रंध्रों की) गायें, जिनके लिए सहज भाव का घर (बखर) बनाया गया है अर्थात् उनकी प्रवृत्ति भी सहजानुरूप हो गई है। और मेरा मन ऊंची उड़ान लेने लगा है।

सुरहट (बहुत ऊंचे) घाट (स्थान) का मैं व्यापारी हूँ, शून्य का मैंने पसारा किया है (अर्थात् बेचने की सामग्री शून्य, कुछ नहीं है, दूसरे अर्थ में शून्य परब्रह्म है)। मैं न लेना जानता हूँ, न देना! ऐसा हमारा यह वाणिज्य है। मछन्दर का शिष्य कहता है कि ऐसे वाणिज्य का अर्थ यह है कि गुरु के वचनों के सहारे अपनी करनी के द्वारा मुक्ति लाभ करो।

एक दूसरे स्थान में 'सुनार' का रूपक बाँधते हुए गोरख कहते है—

सोना ल्यौ रस सोना ल्यौ, मेरो जाति सुनारी रे।
धमणि धमी रस जांमणि जांम्या,
तब गगन महारस मिलिया रे ।। टेक ।।
आपै सोना नै आप सुनारी, मूल चक्र अंगीठा।
अहरणि नाद नै ब्यंद हथौड़ा, घटि स्यूँ गगन बईठा ।।
असै आरण नै विसै कोइला, सहज फूक दो नलियां।

चंद सूर दोऊ सम करि राख्या, आपै आपु जु मिलिया ॥
रती का काम मासे की चारी, रती मैं मासा चौरै।
मासा चोरि रहै मासै मैं, इहिं बिधि गरथैं जोरै ॥
अरधै सोनां उरधै सोनां मध्ये सोनम् सोना।
तीनि सुन्य की रहनी जानै, ता घटि पाप न पुन्यां ॥
उनमनि डांडी मन तराजू, पवन कीया गदियाना।
आपै गोरखनाथ जोखण बैठा, नव सोना सहज समाना ॥

इस प्रकार के रूपक सामान्य लोक-जीवन और साधना में गठ-बन्धन कर देते हैं और साधक की बात सामान्य जनता के हृदय तक पहुँचती है। सन्त काव्य में इस प्रकार के सहज रूपकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। ये रूपक सहजग्राह्य है। जहाँ गोरखनाथ योग-शास्त्र के इड़ा-पिंगला (सूर्य-चन्द्र, गंगा-जमुना) इत्यादि रूपकों को लेकर चलते हैं, वहाँ उनकी बात समझना कठिन हो जाता है। जो हो, यह निश्चित है कि गोरखनाथ और अन्य नाथ-पंथियों का काव्य सिद्धों और सन्तों के काव्य के बीच में पड़ता है और एक विशेष विचारधारा की बीच की कड़ी स्थापित करता है।

यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी की सिद्ध, नाथ और संत काव्य धाराएं मूलतः पूर्वी प्रदेश से सम्बन्धित रही हैं। ये तीनों विचार-धाराएं आत्मानुभूति पर बल देती हैं और बाह्याडम्बरों के विरुद्ध प्रचार करती हैं। तीनों में मूर्तिवाद को कोई स्थान नहीं मिल सका है। तीनों परम सत्ता को निर्गुण, अद्वय और अनिर्वचनीय बताती हैं। साधना के लिए तीनों बहुत कुछ योग-मार्ग की ओर झुकती हैं और हठयोग और कुण्डलिनी द्वारा चक्रभेद को प्रधानता देती हैं। परन्तु ये सब समानताएं होने पर भी तीनों में बहुत कुछ विषमता भी है। तीनों अपने-अपने समय के अनुरूप नये-नये तत्वों का अपने भीतर समावेश कर लेती हैं और उनकी साधना बराबर अधिक-अधिक सहज

होती गई है। संत विचारधारा में तो केवल मात्र भक्ति--निर्गुण या अद्वैत भक्ति--को ही साधना का विषय बना लिया गया है। वास्तव में संत, भक्त और सूफ़ी साधनाओं में बहुत कुछ आदान-प्रदान रहा है और तीनों के मूल भाव (प्रेम भाव) में समानता है। उपनिषदों में जिस निर्गुण आत्मवाद का पहला उन्मेष ई० पू० १००० के लग-भग दिखाई पड़ता है, वही कालांतर में सिद्ध, नाथ और संत विचार-धारा के रूप में हमारे सामने आता है। सच तो यह है कि पूर्वी प्रदेश की धार्मिक चिन्ता बराबर प्रगतिशील रही है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसी प्रदेश में बौद्ध और जैन धर्म और उनके अनेक संप्रदायों ने जन्म लिया। वास्तव में पूर्वी हिन्दी प्रदेश ने कई सौ वर्षों तक धर्म, दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में नई प्रगतिशील धाराओं का विकास कर समस्त देश का नेतृत्व किया। इस दृष्टिकोण से नाथपंथ धारा का सम्यक् अध्ययन-अध्यापन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

४

संत-काव्य

निर्गुण भावना की परम्परा उपनिषदों के समय से आती है। उसमें रूपों के पीछे अव्यक्त सत्ता की स्थापना की गई है और अन्तस्साधना को उसकी प्राप्ति का साधन माना गया है। यह भावना ही बौद्ध साधकों (सिद्धों) और नाथपंथियों में होती हुई अधिक बलवती रूप में संत-काव्य में प्रकाशित हुई है।

अन्तस्साधना पर बल संतधारा की मूल भावना समझी जानी चाहिये। जिस युग में रामानन्द, कबीर आदि हुए उस युग में आचार्य और सवर्ण संत-महात्मा वैष्णव पुनरुत्थान की ओर सचेष्ट थे। भागवत और रामायणों को लेकर राम और कृष्ण अवतारों की पूजा चली। देवी भागवत आदि के आधार पर चंडी आदि देवियों की कल्पना की गई। नीचे वर्गों के लोग सामाजिक दृष्टि से अस्पर्श्य थे, अतः सवर्णों के मंदिरों और पूजा-स्थानों में उनका प्रवेश निषिद्ध था। उनकी जाग्रति ने जातिपाति और छूताछूत द्वारा स्थापित वर्ण-भावना के विरोध का रूप धारण किया।

वास्तव में संतकाव्य के कई पक्ष हैं। उसमें संतों की साधना व्यक्त हुई है। अनेक स्थानों पर इसने अध्यात्मवाद या रहस्यवाद का रूप ग्रहण कर लिया है। साधना के आरम्भ में साधक की अंतः-करण-शुद्धि के लिए कुछ नैतिक गुणों का संग्रह आवश्यक बतलाया गया है। ये गुण हैं—अहिंसा, संतोष, दया, क्षमा, शील, सारसंग्रह, सत्य-भाषण, कामिनी-कंचन-त्याग, सत्संग, विचारशुद्धि, जीवदया। संत-साहित्य में इन सब के सम्बन्ध में सुन्दरतम विचार मिलेंगे। साधना के मार्ग में जो बाधाएँ हैं उनसे युद्ध, और लौकिक पक्ष में मूर्ति-पूजा,

वर्णाश्रम संस्था, जाति-विभेद, हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य, श्राद्ध, नमाज़ आदि बाह्याचार और मालाकंठी आदि बाह्याडम्बर का विरोध--ये बातें साधक के लिए आवश्यक हैं। इनके साथ भक्ति का सम्मिश्रण है। संत निर्गुण के उपासक हैं, परन्तु उनका निर्गुण बौद्ध साधकों के शून्य से प्रथक है। उन्होंने ज्ञान को भगवत्प्राप्ति का पहला चरण माना है। परन्तु ज्ञान से चरम-शक्ति को जानने के बाद उसके पास तक पहुँचने के लिए भक्ति ही साधन है। यह भक्ति उतनी तन्मयता-प्रधान नहीं जितनी कथित भक्तों की भक्ति, परन्तु उसका रूप बहुत कुछ भिन्न भी नहीं है। इसके कारण संतों के निर्गुण में रूप-गुण का अस्पष्ट आरोप हो जाता है।

संतों के रहस्यवाद को समझने के लिए हमें पहले यह समझ लेना होगा कि उसकी रहस्यमयता के दो कारण हैं। एक, उनके आराध्य का निर्गुण होना ; दूसरे, उनकी भक्ति-भावना का अरूप के प्रति अर्पण होने के कारण अस्पष्ट ही रह जाना—विशेषतः जहाँ जीवात्मा-परमात्मा के मिलन अथवा मिलनानन्द का वर्णन है, वहाँ संत भावों को केवल प्रतीकों में ही अभिव्यक्त कर सके हैं। इनका एक रूप उलटबाँसियाँ है, दूसरा रूप प्रकृति के व्यापार से लिए हुए प्रतीकों के प्रयोग का है।

संतों को अपने काव्य-द्वारा अपने उद्देश्यों में कितनी सफलता हुई है, यह विचारणीय है। वे ऊँचे दरजे के साधक थे और उनकी वाणी उनकी आध्यात्मिक साधना को भली-भाँति प्रकाशित कर सकी है। आध्यात्मिक मिलन और वियोग के इतने सुन्दर चित्र इतनी सादगी के साथ संसार के किसी साहित्य में नहीं मिलेंगे। उन्होंने जिन शाश्वत नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के संग्रह का आदेश किया है, वे प्रत्येक समाज के लिए प्रत्येक समय उपादेय हैं। उन्होंने साधना के बाह्य उपचारों की अवहेलना की। यह अधिकांश में उनकी

सामाजिक स्थिति का फल था। उन्होंने समझ लिया था कि इन वाह्योपचारों ने आडम्बरों का रूप ग्रहण कर लिया है और ये जनता की जीवन शक्ति का शोषण कर रहे हैं। धर्म के नाते वर्ग बने जा रहे हैं। अतः उन्होंने वाह्योपचारों का विरोध कर मूल नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्वों की ओर संकेत किया जो सब धर्मों में समान रूप से प्रशंसित थे। वह युग धार्मिक संघर्षों का युग था। दो धर्म-प्रधान संस्कृतियाँ टक्कर ले रही थीं। अतः दोनों जातियों को एक सूत्र में बाँधने के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें समान-धरातल पर लाया जाय। संतों ने यह बात चार प्रकार से की। उन्होंने पूजाराधना के वाह्योपचारों और विधि-विधानों का निषेध एवं खंडन किया, समान रूप से आदर पाये हुए नैतिक तत्वों पर बल दिया, पारिभाषिक शब्दों की एकता की घोषणा की और अन्ततः एक सामान्य भक्ति-पथ का निरूपण किया। इस सामान्य भक्तिपथ को हम 'निर्गुण भक्ति' का नाम दे सकते हैं जिसमें एक ओर सूफ़ियों के सिद्धान्तों को स्थान मिला है और दूसरी ओर अद्वैत के आधार पर प्रचलित हिन्दू भक्तिवाद (वेदांत भक्ति) को। वास्तव में इन दोनों में कोई भेद भी नहीं था। धार्मिक एकता के आधार पर हिन्दू-मुसलमानों में एकता उत्पन्न करने का ध्येय सफल नहीं हुआ। कारण यह था कि हिन्दू विजित थे, मुसलमान विजेता ; मूल में राजनैतिक विरोध भी काम कर रहा था। शताब्दियों की संकीर्णता के कारण हिन्दुओं ने आगे बढ़ना छोड़ दिया था। एक प्रकार से वह नवागन्तुकों का सामाजिक बहिष्कार किए हुए थे। सच तो यह है कि परिस्थिति इतनी सरल नहीं थी जितनी संतों ने समझी थी परन्तु इस असफलता के कारण उनके प्रयत्नों की महत्ता कम नहीं होती। इसी प्रकार अवर्ण-सवर्ण समस्या भी हल नहीं हुई। शक्ति सवर्णों के हाथ में थी। अधिकांश संत अवर्णों में हुए। सवर्णों ने उनके संदेशों का

संदेह की दृष्टि से देखा और वर्ण भेद मिटाने की उनकी चेष्टा
विरोध किया। वस्तुतः रामानंद के बाद यह विरोध अत्यंत तीव्र हो गय
उच्च वर्णों ने इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया। "हरि को भजै
हरि का होई"— इस सिद्धान्त के अनुसार अछूत संत भी उ
सम्मान्य रहे परन्तु इस भावना को अधिक विस्तार नहीं मिल सक
प्रयत्न केवल नीचे से ऊपर की ओर हुआ। संतों के मांस-मदि
निषेध जैसे संदेशों ने नीची जातियों को ऊपर अवश्य उठाया पर
ऊँची जातियाँ संकीर्णता को छोड़ कर और नीचे झुक कर उन
हृदय से लगाने के लिए तैयार नहीं थीं।

जो हो, संतों का दृष्टिकोण अत्यंत यथार्थवादी था। वे परमा
तत्व के जिज्ञासु थे। भक्त थे। वैष्णव थे। वैष्णव-सिद्धान्तों के आ
पर उन्होंने नीची जातियों के संस्कार को ऊपर उठाया। हिन्दू-मुस
मानों को पास लाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। जीवन के साम
सिद्धान्तों और नैतिक तत्वों की ओर संकेत किया। स्वयम् अध्या
तत्व को लोकतत्व से बड़ा मानते हुए भी उन्होंने लोक संग्रह
भावना अपने सामने रखी। उनकी तपस्या और साधना का रूप के
वैयक्तिक ही नहीं था। वह लोक पक्ष को लेकर चलता था। शंक
चार्य के बाद जिस विरक्ति वैराग्य ने समाज में उच्छृङ्खलता उत
कर दी थी उसके विरुद्ध इन संतों ने कहा—"गृहस्थी के कर्मों
छोड़ने की आवश्यकता नहीं, मन को स्वच्छ करो। वासना से लड़
विजय प्राप्त करो। संघर्षों से भागो नहीं। यही सहज मार्ग है। सं
से भाग जाना कायरता है।" इस प्रकार उन्होंने समाज की स्थिति
स्वीकार किया यद्यपि अपने समय के समाज की वर्ण-व्यवस्था

काव्य नहीं है, उसमें युग को साधना है, अपने युग की सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा है।

१२वीं-१३वीं शताब्दी में वैष्णव भक्ति का रूप बहुत कुछ निश्चित हो चला था। इस भक्ति के अनेक आराध्य देव थे। बंगाल में राधा-कृष्ण और देवी की उपासना प्रचलित हो रही थी। दक्षिण में शिव-भक्ति की धारा प्रचंड बल से बह रही थी। गुजरात में कृष्ण और विठोवा की भक्ति पर बल दिया जाता था। सारे उत्तर भारत में राम, कृष्ण, नारायण और शिव के भक्त अपने-अपने मतों के प्रचार में लगे थे। कबीर के समय तक आते-आते वैष्णव मतवाद की भक्ति का अंग इतना विकसित हो चुका था कि उसकी उपेक्षा असंभव थी। संतों ने अवतारवाद को ग्रहण नहीं किया। यह अवतारवाद ही वैष्णव भक्ति का मूल था। परन्तु वे वैष्णव भक्ति भावना से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उन्होंने वैष्णवों के राम-कृष्ण को निर्गुण अर्थों में प्रयुक्त किया और उनकी भक्ति को नया रूप दिया। कबीर दाशरथि राम में विष्णु की सत्ता स्वीकार नहीं करते। परन्तु अपने को निर्गुण राम की बहुरिया मान कर उनके प्रति उत्कट प्रेम का परिचय देते हैं—

१—निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई
अविगति को गति लखी न जाई ॥ टेक ॥
चारि वेद जाके सुमृत पुराना। नौ व्याकरना मरम न जाना ॥
सेस नाग जाकै गरुड़ समाना। चरन कवल कवला नहिं जाना ॥
कहै कबीर जाकै भेदै नाहीं। निज जन बैठे हरि की छाँही ॥

२—प्यारे राम मन ही मना।
कासूं कहूँ कहन को नाहीं, दूसर और जना ॥ टेक ॥

इस प्रकार सन्तों की निर्गुण भावना सगुण भक्तिधारा के प्रभाव के कारण पूर्णतः शुद्ध नहीं रह सकी। यही विरोधी भावनाएं—एक

ओर निर्गुण, दूसरी ओर भक्ति--आलोचकों को भ्रम में डाल देता है। वस्तुतः मध्ययुग की निर्गुण भावना को औपनैषदिक निर्गुण भावना की परिभाषा से ठीक ठीक समझा नहीं जा सकता। वह निर्गुण इसी हद तक है कि उसमें अवतारवाद की प्रतिष्ठा नहीं हुई है, परन्तु सन्तों का निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त होते हुए भी प्रेममय, भक्तवत्सल और करुणार्द्र है। उसे परिभाषित विशेषण से नहीं जाना जा सकता।

सन्तों की निर्गुण भक्ति भावना में और सूफ़ियों के 'इश्क़' में इतना अधिक साम्य था कि दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए। सन्तों ने अपनी साधना में सूफ़ियों की बहुत-सी बातें अपना लीं। उनके काव्य में, विशेष कर परवर्ती सन्तों के काव्य में, सूफ़ी पारिभाषिक शब्द बड़ी स्वतंत्रता से प्रयोग में आते हैं। इससे एक तात्कालिक लाभ तो यह है कि सन्तों का सन्देश उस जनता में भी शीघ्रता से पहुँच जाता था जो सूफ़ियों को मानती थी। सच तो यह है कि सन्तों ने सूफ़ियों के सिद्धान्तों को स्वीकार कर और उन्हीं की तरह प्रेम-विरह-मूलक भक्ति का प्रचार कर सूफ़ियों का कार्यक्षेत्र छीन लिया।

इस प्रकार हम सन्तकाव्य के सम्बन्ध में विचित्र परिस्थिति पाते हैं। उसमें वैष्णव नैतिक सिद्धान्त मिलेंगे, वैष्णव भक्ति-भावना मिलेगी, औपनैषदिक निर्गुणवाद मिलेगा, बौद्ध साधकों और नाथपंथियों के पारिभाषिक शब्द मिलेंगे और सूफ़ी साधकों की साधना भी दिखलाई देगी। साथ ही सन्तों के आत्मानुभव रहस्यवादी उक्तियों के रूप में मिलेंगे। इनके अतिरिक्त मुसलमान एकेश्वरवादी पैग़म्बर-धर्म का मूर्तिखण्डन और एकेश्वरवाद और हिन्दू-मुसलिम भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण जो विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं, उनका प्रभाव। सच तो यह है कि संतकाव्य अपने समय का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व करता है। उसमें बहुत कुछ पुराना है परन्तु उस पुराने को

नये रूप में उपस्थित किया गया है। निःसन्देह नया भी कम नहीं है।

निर्गुण पंथ (संतमत) में भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों, धर्म-ग्रन्थों, दर्शन-शास्त्रों और रहस्यवादी संस्थाओं की बातें मिलती हैं। उसमें बुद्धमत के शून्य और निब्बान का भी स्थान है, वैष्णव-मत की भक्ति भी है, वेदान्त का अद्वैत है और गोरखनाथ का तंत्रवाद भी है। सन्तों की वाणियों में योग-सम्बन्धी जो विचार लिये गये, वे पतञ्जलि और कपिल के योग-सूत्रों से नहीं, वरन् प्रचलित नाथ-संप्रदाय से लिए गए हैं जिसमें इन प्राचीन योग-प्रणालियों का बौद्धतंत्रवाद से अद्‌भुत मिश्रण हो गया था। इसीलिए निर्गुण सन्तों के योग को समझने के लिए योग के बिगड़े रूप (नाथ-सम्प्रदाय की क्रियाओं) को समझना आवश्यक है। इसी प्रकार बौद्धमत का जो है, वह सिद्धों और गोरखनाथ के माध्यम से यहाँ प्राप्त हुआ है। सभी कुछ बिगड़े-सुधरे रूप में यहाँ मौजूद है।

हम उसे इन सबका बिगड़ा रूप कहें, परन्तु एक दूसरा दृष्टिकोण भी हो सकता है। स्वयं सन्तों का यही दृष्टिकोण था—यह कि उसमें प्राचीन भक्तों, धर्मों और सम्प्रदायों का सार ले लिया गया है। इसके लिए सन्तों ने विशेष परिश्रम नहीं किया। समय का प्रवाह ही ऐसा था और परिस्थितियाँ इस तरह काम कर रही थीं कि अनायास ही ऐसा हो गया।

हम यह भी कह सकते हैं कि एक प्रकार से इन सन्तों ने मध्य-मार्ग का प्रचार किया। यह मध्यमार्ग की परम्परा गीता, बौद्ध मत, महायान, योगाचार और नाथ-सम्प्रदाय से होकर निर्गुण पंथ तक आई। भारतीय मस्तिष्क की एक विशेषता यह है कि वह विद्रोह और आमूल परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। उसमें मध्यमार्ग से सन्तुष्ट हो जाने की प्रवृत्ति है। सन्तों ने ऐसा ही मार्ग जनता को दिया।

भिन्न-भिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और दर्शनों की धाराएं निर्गुण-पंथ

के रूप में एक हो गई—यह हम कह चुके हैं। यह प्राकृतिक प्रक्रिया थी। एकांतिक धर्म के विकास से लेकर रामानन्द के आविर्भाव तक यह मिश्रण होता रहा। एकांतिक धर्म में उपनिषदों के सिद्धान्तों का समावेश तो पहले ही हो गया था, फिर श्रीमद्भागवत में हमें ईश्वरवाद के दर्शन होते हैं और अद्वैतवाद की पुष्टि होती है। शंकराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य करते हुए ईश्वरवाद को अधिक मान नहीं दिया, इसी से उन्हें "प्रच्छन्न बौद्ध" कहा गया। परन्तु वैष्णव धर्म की आत्मा मर नहीं गई थी और शंकर के मत के विरुद्ध अन्य दार्शनिक मत (विशिष्टाद्वैत, भेदाभेद, द्वैताद्वैत आदि) उठ खड़े हुए। यह सब होने पर भी शंकराचार्य का प्रभाव बना रहा। १२वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में मुकुन्दराज ने 'विवेकसागर' ग्रन्थ की रचना की और १२४० ई० में ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी' (भगवद्गीता की टीका) लिखी। दोनों पर वेदान्त का प्रभाव है। उत्तरी हिन्दुस्तान में रामानन्द के द्वारा विशिष्टाद्वैत और अद्वैत का मिश्रण हुआ। जान पड़ता है, उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतवाद में वैष्णवभक्ति को मिला लिया।

प्राचीन योग और बौद्धमत के संयोग से योगाचार-तंत्रवाद चला। इस तंत्रवाद पर शृङ्गार की छाया पड़ने पर वज्रयान और सिद्ध सम्प्रदाय की सृष्टि हो गई। कुछ सिद्धों ने इस शृङ्गार-भाव का विरोध किया। उनसे नाथ-सम्प्रदाय की नींव पड़ी। वैष्णवधर्म में योग का अपना स्थान था। उसमें योग के नये प्रकार की पहुँच हो गई। राघवानन्द प्रसिद्ध योगी थे, अद्वैतवादी तो वे थे ही। इन्हीं से रामानन्द ने विशिष्टाद्वैतवाद और योग की शिक्षा ली। इससे रामानन्द में वैष्णवधर्म, वेदान्त और योग की तीन धाराओं का मिलाप हो गया। कबीर ने इसको पैतृक सम्पत्ति जैसा पाया।

इससे यह स्पष्ट होता है कि निर्गुण पन्थ का रूप रामानन्द के समय में ही उनके द्वारा स्थिर हो चुका था। कबीर ने उसमें मूर्ति-पूजा

और अवतारवाद का विरोध जोड़ दिया। भक्ति में स्त्री-पुरुष के सांसारिक प्रतीक का आरोप भी उन्होंने ही किया। यह दोनों बातें उन्हें मुसलमानों से ही मिलीं अथवा उनके कारण उत्तेजना को प्राप्त हुईं।

इस प्रकार मिश्रित होने पर भी वैष्णवधर्म की भक्ति-भावना निर्गुण-पन्थ का मेरुदण्ड होने के कारण हम उसे वैष्णव-धर्म का नया रूप कह सकते हैं। इससे हमारा अर्थ यही होगा कि उसके मूल में वैष्णव-भावनाओं का समावेश अधिक है। वैष्णव लोगों की शाक्तों के प्रति चिढ़ इस पन्थ का एक अङ्ग बन गई। कबीर और अन्य सन्तों ने स्थान-स्थान पर वैष्णवों की प्रशंसा भी की है। तब क्या कबीर वैष्णव थे? थे, केवल वे उनके कर्मकांड और मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में मतभेद रखते थे। वे विष्णु और उनके अवतारों को भी नहीं मानते थे। इसलिए वैष्णवों के प्रति उनका प्रेम होने पर भी हम उन्हें वैष्णव नहीं कह सकते।

निर्गुण पंथ सन्तों के सामने एक विशेष सम्प्रदाय के रूप में खड़ा नहीं हुआ। कबीर स्वयं पंथों और सम्प्रदायों के विरोधी थे। स्वयं हिन्दू धर्म और मुसलमान धर्म में विभिन्न सम्प्रदाय थे जो एक दूसरे का विरोध करते थे। उन्होंने नया पंथ चलाने का प्रयत्न नहीं किया। उनका मत था कि--

विधना के मारग हैं तेते।
सरग नखत तन रोवाँ जेते॥
(जायसी)

उन्होंने तो प्रत्येक धर्म का सार ग्रहण किया था और कोई भी उसे ग्रहण कर सकता था। उसे अपना मत छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि कबीर प्रचलित मतों में सुधार चाहते थे, नया

धर्म चलाना उन्हें वांछनीय नहीं था। और निर्गुण की भावना के पंथ की भावना चलती भी नहीं। पंथ की विशेषता कर्मकाण्ड है। धार्मिक असहिष्णुता का यह कारण है कि मनुष्य केन्द्र को छोड़कर बाहर के आचार विचार को प्रधानता दे देता है और फिर इन वाह्योपचारों में असमानता देखकर तत्व न समझते हुये, दूसरे से अपने विचार को मनवाना चाहता है। प्रत्येक धर्म-सुधारक की चेष्टा गौण को छोड़कर प्रधान को अपनाने की होती है। बाहरी कर्मकाण्ड तो प्रतीक मात्र हैं जिनके सहारे ऊँचे तत्वों (धर्म के ऊँचे स्तरों) तक पहुँचना होता है। सुधारक प्रतीक के पीछे सत्य की प्रतिष्ठा करता है और समय के अनुसार उसी एक सत्य के लिए नए प्रतीक गढ़ लेता है। यहाँ उसका कार्य समाप्त हो जाता है।

परन्तु यही प्रतीक और वाह्याचार मनुष्यों को संप्रदायों में बाँधने के लिए आवश्यक हैं। कबीर पंथ (अथवा निर्गुण पंथ) में इनकी सत्ता ही नहीं मानी जाती। उसने न उपासना की व्यवस्था की, न कर्मकाण्ड की। वह तो सत्य को मानता है। जहाँ भी हो वहाँ से उसको ग्रहण करना चाहिये। यदि इस सार ग्रहण की भावना को धर्म की भावना माना जाय तो अवश्य ही वह पंथ है।

निर्गुण पंथ से हमारा अर्थ मौलिक कबीर पंथ का है—उस भावना का जिसने अपने प्रचार के लिए कबीर को बाध्य किया। कबीर पंथ, दादू पंथ, नानक पंथ, जग्गू पंथ (जग्गूदास), सत्नामी पंथ (जगजीवनदास), दरियापंथ (मारवाड़ के दरिया साहब), साहिब पंथ (हाथरस वाले तुलसी) और राधास्वामी पंथ पंथ है, परन्तु निर्गुण पंथ को यदि पंथ कहा जाय तो वह इनसे भिन्न है। यहाँ पंथ शब्द को हमें बड़े विस्तृत अर्थ में लेना होगा। कबीर ने जिस निर्गुण मत का प्रचार किया उसकी आत्मा से वे इतने ही दूर हैं जितने वे धर्म के

स्थान दे दिया गया है। चौका की उपासना-प्रथा वैष्णवों की षोड़-शोपचार-पूजा का ही दूसरा रूप है। प्रत्येक पंथ के गुरु में ईश्वरत्व का आरोप कर लिया गया है, कुछ कर्मकांड बना लिये गये हैं, अन्य धर्मों की उपासना-पद्धति और अनेक प्रथाओं को अपना लिया गया है।

मध्ययुग में तीन धार्मिक धाराएँ बहुत कुछ समानान्तर चल रही थीं। एक तो गोरखनाथ का नाथ-पंथ, दूसरे निर्गुण और सगुण-भक्ति-सम्प्रदाय, तीसरे सूफ़ी मत। इस समस्त विस्तृत काल में यह उपधाराएं बराबर अलग होकर बहती रहीं। निर्गुण धारा में तो एक प्रकार से अन्य धाराओं का इतना जल मिल गया है कि लोग उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व पर ही शंका करने लगे हैं।

इस धार्मिक धाराओं ने अपने समय की आवश्यकताओं को सफलता-पूर्वक पूरा किया। यह समय विदेशी संघर्ष का समय था। यद्यपि १२०० ई० के बाद पश्चिम से आक्रमण रुक गये और मुसल-मान भारत में ही बस गये जिसके कारण राजनैतिक संघर्ष कम हो गया (एक प्रकार से रहा ही नहीं) परन्तु दो विभिन्न विरोधी सभ्यताओं का संघर्ष अभी भी चल रहा था। यह राजनैतिक संघर्ष से भी अधिक महत्व-पूर्ण था। हिन्दुओं का अस्तित्व बनाये रखना कठिन हो रहा था। राजनीतिक शक्ति तो उनसे छिन ही गई थी, परन्तु संभव था कि उनका धर्म, उनके समाज-संगठन, उनके आचार-विचार पर मुसलमानी धर्म की इतनी छाप पड़ जाती कि उनका रूप ही बदल जाता। यह समय हिन्दी भक्त कवियों के प्रादुर्भाव का समय था। उन्हीं की चेष्टाओं के कारण इस्लाम और हिन्दू धर्म के इस संघर्ष में हिन्दू-धर्म की मौलिकता बनी रही। एक ओर तो मुसलमानों को हिन्दू-धर्म और हिन्दू जीवन के सुन्दर चित्र देकर हिन्दुओं के प्रति सहिष्णु बनाया, दूसरी ओर यही काम निर्गुण कवियों ने हिन्दू-मुसल-

मानों के मत की एक सी बहुत बातों पर ज़ोर देकर किया। उन्होंने मूर्ति-पूजा की निन्दा की। इस्लाभी "बुतशकन" (मूर्ति-खंडक) होना श्रेय समझते थे। निर्गुणियों ने बुतों मूर्तियों की असमर्थता चिल्ला-चिल्ला कर कही।

जब वे आप बुतशकन थे, तो मुसलमान उसका विरोध कैसे करते? उन्हें स्वयं हथियार उठाने की आवश्यकता नहीं रह गई। सगुण भक्त-कवियों ने हिन्दू संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर ज़ोर दिया। उनका काम विधेयात्मक था। उन्होंने हीनता की भावना को हिन्दू समाज से निकाल दिया। राम-रावण-युद्ध में राम की आसुरी शक्ति पर विजय दिखाकर तुलसीदास ने मानो म्लेच्छ धर्म पर हिन्दू धर्म की संभाव्य विजय की ओर इङ्गित किया। यह तो मानना ही होगा कि रामचरितमानस के पीछे इस्लाम से ही मोरचा लेने का मनोविज्ञान काम कर रहा है। इस एक पुस्तक ने हिन्दुओं को हिन्दुत्व की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध कर दिया। भावी राम-विजय के चित्र जनता की आँखों के आगे फिरने लगे।

इस्लाम की दो विशेषताएँ थीं: (१) वह कट्टर एकेश्वरवादी था (ला इलाहीलिल्लाह, मुहम्मद रसूलल्लाह: ईश्वर एक है, मुहम्मद उसका प्रतिनिधि है), (२) इस्लाम में भ्रातृत्व की प्रधानता थी। यह बात नहीं कि हिन्दू मत के लिए ये नई बातें थीं। शंकराचार्य ने नवीं शताब्दी में अद्वैतवाद का प्रचार किया था। दक्षिण के शैवों और अलवारों ने आठवीं शताब्दी में ही ईश्वर में पितृत्व की आरोपना की थी, एवम् वर्णभेद और अस्पृश्यता का विरोध किया। परन्तु उत्तरी भारत में आचार्यों के प्रयत्नों ने शंकराचार्य के कार्य को समाप्त कर दिया। उन्होंने शंकर के मौलिक अद्वैत में रूपान्तर उपस्थित किये और स्पृश्य-अस्पृश्य की रूढ़ियों को और भी दृढ़ बना दिया। शैवों और अलवारों के काम से उत्तरी भारत परिचित नहीं था और दक्षिण

में उनका स्थान पुराण-प्रेमी भक्त-आचार्यों ने ले लिया था। इस परिस्थिति में हिन्दी प्रदेश के निवासियो को इस्लाम के सिद्धान्त नये न होकर भी नये लगे।

निर्गुणी सन्तों ने इस्लाम के प्रभाव का सामना किया। उन्होंने एकेश्वरवाद का ही समर्थन नहीं किया, वे और आगे बढ़ गये। ईश्वर एक है परन्तु उसे एक कहने से उसके सीमित अस्तित्व और द्वैतहीन होने का विचार हो आता है। हम अपने विशेषणों से उसे बतला ही नही सकते। वह नहीं भी नहीं है, एक भी नही है। वह सब संज्ञाओं और सब विशेषणों से परे है। कबीर की कल्पना का साहब (ईश्वर) किसी भी एकेश्वरवादी के ईश्वर के आगे की चीज़ है। यह अवश्य है कि आगे के सन्तों ने यह ऊँची उड़ान लेने में असमर्थता दिखाई। इस एकदेववाद के समर्थन के लिए मूर्तिपूजा का विरोध आवश्यक था। निर्गुण सन्तों ने इसका विरोध किया। साथ ही अवतार का भी।

परन्तु एक तरह इस्लाम धर्म में वे सब बातें मौजूद हैं जिनके लिए उन्होंने हिन्दुओं को कष्ट दिया। अवतारवाद के वे द्रोही हैं, परन्तु स्वयं मुहम्मद साहब ईश्वर के बेटे उनके नूर से पैदा हुआ. उनके स्वरूप माने जाते हैं। खलीफ़ा की संस्था में भी अवतार जैसी कुछ भावना छिपी है। मूर्तिपूजा वे नहीं करते। परन्तु काबे का पत्थर वे चूमते हैं। तीर्थयात्रा नहीं करते, परन्तु हज करनेवाले हाजी की प्रतिष्ठा करते हैं।

फिर भी मुसलमानों के आने से एक बात ज़रूर हुई। भारत में धर्म-भावना नीचे वर्ग तक कभी नहीं पहुँची थी। वह ऊँचे वर्गों की चीज़ थी। पहले वैदिक-काल में ब्राह्मण ही वेदविद्या का अधिकारी था। फिर उपनिषद्-काल में कितने संपर्कों के बाद जब क्षत्रियों ने ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर लिया तो ब्राह्मणों को उनका शिष्य होना पड़ा। वे ही इसके रक्षक-पोषक थे। अब पहिली बार निम्न कौम

ने अपने अधिकारों के लिए झंडा खड़ा किया। राजनैतिक अधिकार तो हिन्दुओं के पास थे ही नहीं। धार्मिक क्षेत्र में एक विप्लव उठ खड़ा हुआ। विजेताओं के भ्रातृभाव ने उसे उत्तेजना दी।

इस्लाम के साथ हिन्दुत्व का संघर्ष हुआ तो हिन्दुत्व की कमज़ोरियाँ अच्छी तरह प्रकाश में आ गईं। वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य और उसकी प्रारम्भिक अवस्था जैसी भी रही हो, अब वह स्वस्थ नहीं रह गई थी। उच्च जाति के हिन्दुओं (सवर्णों) ने इसे समझा। अन्त्यजों ने इसे अपने अधिकारों का मेरुदण्ड बना लिया। शायद इस समय के सुधारों का एक कारण निम्न जाति के हिन्दुओं का इस्लाम की ओर आकर्षण और धर्म परिवर्तन भी हो जिन्हें रोकने के लिए इस प्रकार की व्यवस्था की गई हो। परन्तु यह भावना अधिक नहीं पनपी। हरिभक्त अन्त्यजों को किसी हद तक सवर्ण सवर्ण भी मानते थे, परन्तु अन्य अन्त्यजों की अवस्था के प्रति उन्हें अधिक सहानुभूति नहीं थी। उनके लिए कर्म-सिद्धान्त लागू होता था। वे सवर्ण नहीं हैं, यह तो पिछले जन्म के पाप का फल है। उनकी सहायता करना कर्मचक्र को रोकना है, अतः अधर्म है। कुछ भी हो —"ढोल गंवार शूद्र पशु नारी" वाले दोहे से उस समय की अन्त्यजों की स्थिति समझ में आ जाती है।

यही नहीं, निर्गुणी शूद्र (अवर्ण) संतों के संप्रदाय में आज भी हम सवर्ण बहुत कम पाते हैं। इससे जान पड़ता है कि यद्यपि निर्गुण संतों ने सवर्णों की धर्म भावना को परोक्ष रूप से ही उत्तेजित किया, उनके साथ उनका सीधा संबन्ध नहीं है और वे समाज के निम्न भागों से उठे और उन्हीं की चीज़ हो गये। निर्गुण पंथ में सवर्णों ने प्रवेश क्यों नहीं किया, इसके कई कारण हैं। परन्तु यदि सवर्णों का प्रवेश हो गया होता तो समाज और साहित्य का दूसरा ही रूप हमें मिलता।

संक्षेप में, मध्ययुग को हम समन्वय का युग कह सकते हैं। धर्म

के क्षेत्र में समन्वय की भावना प्रधान थी। कबीर से बहुत पहले इसका जन्म हो चुका था। नाथ सम्प्रदाय के गोरखनाथ के एक शिष्य के 'काफ़िर बोध' और 'अवलि सलूक' इसके प्रमाण हैं। कबीर और उनके समय के बाद के निर्गुण सन्तों ने इस दिशा में श्रेयस्कर काम किया।

निर्गुण धारा के प्रथम दर्शन नामदेव की रचनाओं में होते हैं, जिनका जन्म-समय प्रायः सं० १३२७ है। यह पंढरपुर के विठोवा (विष्णु) के भक्त थे। परन्तु उस वैष्णव भक्ति के साथ वे निर्गुणियों के प्रिय (नाम) को भी अद्वितीय स्थान देते हैं। जहाँ उनका वैष्णव भक्ति का पद है--

भाई रे इन नैनन हरि पेखो।
हरि की भक्ति साधु की संगति, सोई यह दिल लेखो॥
चरन सोई जो नचत प्रेम से, कर सोई जो पूजा।
सीस सोई जो नवै साधु के, रसना और न दूजा॥

वहाँ उनका निर्गुण मतवाद इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है--

जोग जग्य ते कहा सरै, तीरथ व्रत दाना॥
कोटि गऊ जो दान दे, नहिं नाम समाना।
ओसै प्यास न भागिहै, भजिया भगवाना॥
एकै मन एकै दासा, एकै व्रत धरिये।
नामदेव नाम जहाज है, भवसागर तरिये॥

नामदेव के समय में ही जन-भावना में निर्गुण और सगुण का किस प्रकार मेल हो गया था, किस प्रकार घट-घटवासी के प्रति प्रेम-भावना प्रसारित हो रही थी, किस प्रकार उसका आधार वेदान्त था, ये बातें इस उद्धृत पद से स्पष्ट हो जाती हैं--

एक अनेक व्यापक पूरक, जित देखौं तित सोई
माया चित्र-विचित्र बिमोहित, बिरला बूझै कोई
सब गोविंद है सब गोबिन्द है, गोबिन्द बिनु नहिं कोई
सूत एक मनि सत्त सहस जस, ओत प्रोत प्रभु सोई
जल तरंग अरु फेन-बुदबुदा, जल ते भिन्न न कोई
यह प्रपञ्च पर परब्रह्म की लीला, बिचरत आन न होई
मिथ्या भ्रम अरु स्वप्न मनोरथ, सत्य पदारथ जाना
सुकिरत मनसा गुरु-उपदेशी, जागत ही मनमाना
कहत नामदेव हरि की रचना, देखो हृदय विचारी
घट-घट अन्तर सर्व निरन्तर, केवल एक मुरारी

नामदेव के बाद त्रिलोचन का नाम आता है। इनके कुछ पद आदि-ग्रन्थ में सग्रहीत हैं। उनके बाद रामानन्द (जन्म सन् १८६६ ई०) आते हैं। रामानन्द के शिष्यों ने ही निर्गुण भावना को उत्तर भारत में प्रचलित किया, अतः उनके सिद्धान्त जानना आवश्यक हैं। रामानन्द राम के उपासक थे। आदि-ग्रन्थ में उनका एक पद हनुमान की विनय में भी है। अतः वह सगुणोपासना को निन्दनीय नहीं समझते। परन्तु उसी ग्रन्थ में उनका जो दूसरा पद है उससे उनका निर्गुण निराकार की उपासना में भी विश्वास प्रगट होता है--

कस जाइये रे घर लायो रंग।
मेरा चित न चलै मन भयो पंग॥
एक दिवस मन भई उमंग।
घासे चोआ चन्दन बहु सुगन्ध॥
पूजन चली ब्रह्म ठाँय।
सो ब्रह्म बतायो, गुरु मंत्रहिं माँहि॥

जहँ　जाइये　तहँ　जल　परवान।
तू　पूर रह्यो　है　सब　समान॥
वेद　पुरान　सब　देखे　जोय।
उहाँ　न　जाइये　जो　इहाँ　न　होय॥
सतगुरु　मैं　बलिहारी　तोर।
जिन　सकल　निकल　भ्रम　काटे　मोर॥
रामानन्द　स्वामी　रमत　ब्रह्म।
गुरु　का　सब्द　काटे　कोटि　करम॥

रामानन्द के शिष्यों में हमें कई की रचनायें प्राप्त हैं। उनके सहारे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि रामानन्द सगुण और निर्गुण भक्ति-धारा के संगम पर खड़े हैं। उनका झुकाव निर्गुण धारा की ओर ही है। उनके व्यक्तित्व और उनके जाति-पाँति-विरोध ने उनके चारों ओर ऐसे व्यक्तियों को इकट्ठा कर दिया जो सभी वर्णों के थे—अधिकांश बहिष्कृत वर्णों के—परन्तु वे बड़े प्रतिभाशाली। इनके व्यक्तित्व और इनकी काव्य प्रतिभा ने शीघ्र ही निर्गुण सन्त मत को सारे उत्तर भारत का सामान्य धर्म बना दिया। निश्चय ही वैष्णव सगुण भक्ति-धारा आचार्यों, महात्माओं और सवर्णों का बल पाकर चलती रही, परन्तु १६वीं शताब्दी तक उसको निर्गुण भक्तिधारा के सामने निर्बल बना रहना पड़ा। १६वीं शताब्दी में महाप्रभु वल्लभाचार्य और महात्मा तुलसीदास के व्यक्तित्व और प्रचार के कारण सगुण भक्ति-धारा अधिक प्रबल पड़ गई और उसी समय से सन्त कवियों को बराबर प्रभावित करती रही। परिवर्ती सन्तों की रचनाओं में यह प्रभाव स्पष्ट है।

रामानन्द के शिष्यों में सदना, धन्ना, रैदास, पीपा, सेन और कबीर की रचनाएँ हमें प्राप्त हैं। इनमें कबीर का साहित्य प्रमुख है;

परन्तु इस सब साहित्य में मौलिक रूप से एक ही प्रकार की भावनाएं मिलती हैं—

नृप कन्या के कारने, एक भयो भेषधारी।
कामारथी सुवारथी, बाकी पैज सँवारी॥
तब गुन कहा जगत गुरा, जो कर्म न नासै।
सिंह सरन कत जाइये, जो जम्बुक ग्रासै॥
एक बूँद जल कारने, चातक दुःख पावै।
प्रान गये सागर मिलै, पुनि काम न आवै॥
प्रान थके जो थिर नहीं, कैसे विरमावो।
बूड़ि मुए नौका मिलै, कहु काहि चढ़ावो॥
मैं नाहीं कछु हौं नहीं, कछु आहि न मोरा।
औसर लज्जा राख लेहु, सदना जन तोरा॥

(सदना)

भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने तनु मनु धनु नहिं धीरे।
लालच बिखु काम लुब्ध राता मन बिसुरे प्रभु हीरे॥
बिखु फल मीठ लगे मन बउरे चार विचार न जान्या।
गुन ते प्रीति बढ़ी अनभाँती जनम मरन फिर तान्या॥
जुगत जनि नहिं रिदै निवासो जलत जाल जम फन्द परे।
बिखु फल संचि भरे मन ऐसे परम पुरख प्रभु मन बिसरे॥
ग्यान प्रवेसु गुरहिं धन दीया ध्यानु मानु मन एक भये।
प्रेम भगति मानी सुख जान्या त्रिपति अवाने मकति भये॥
जोति समाय समाने जाकैं अछली प्रभु पहिचान्या।
धन्नै धन पाया धरणीधर मिली जन सन्त समान्या॥

(धन्ना)

देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला॥
हे रे कलाली तैं क्या किया, सिरका सा तैं प्याला दिया।

कहै कलाली प्याला देऊँ, पीवनहारे का सिर लेऊँ ॥
चन्द सूर दोउ सनमुख दोई, पीवै प्याला मरे न कोई।
सहज सुन्न मैं भाठी सखै, पीवै रैदास गुरुमुख दखै ॥

(रैदास)

धूप, दीप, घृत साजि आरती वारने जाऊँ कमलापती ॥
मंगला हरि मंगला नित मंगला राजा राम राय को।
उत्तम दियरा निरमल बाती, तुहीं निरंजन कमलापाती ॥
राम भगति रामानन्दु जानै, पूरन परमानन्द बखानै।
मदन मूरति भय तारि गुविन्दे, सैन भणय भजु परमानन्दे ॥

(सैन)

काया देवा काया देवल, काया जंगम जाती।
काया धूप दीप नैवेदा, काया पूजौं पाती ॥
काया बहुखण्ड खोजते नवसिद्धी पाई।
न कछु आइबो न कछु जाइबो राम की दोहाई ॥
जो ब्रह्माण्डे सोई पिण्डे जो खोजे सो पावे।
पीपा प्रणवै परम तत्तु है सतगुरु होय लखावै ॥

(पीपा)

कबीर के समय में ही निर्गुण मतवाद सारे उत्तर भारत में जड़ जमा चुका था। रामानन्द और उनके शिष्य कर्मठ व्यक्ति थे। उनके व्यक्तित्व के प्रभाव ने उस मतवाद को सार्वजनिक रूप देने में बड़ी सहायता की होगी। मध्ययुग सन्तों और महात्माओं की बड़ी-बड़ी यात्राओं का युग था। विचारों का आदान-प्रदान बहुत कुछ चमत्कार-कथाओं पर आश्रित था। परन्तु उस समय भी विचार बड़ी शीघ्रता से भारतवर्ष के एक ओर से दूसरी ओर तक पहुँच जाते थे।

पंजाब सबसे पहले मुसलमान सूफ़ियों का केन्द्र हो गया था। इनके प्रभाव में उसकी जनता की एक बड़ी संख्या ने मत-परिवर्तन कर लिया। जब निर्गुणवाद ने पूर्वी हिन्दी प्रदेश में सिक्का जमा लिया तो पश्चिम के हिन्दू सन्त उनकी ओर आकर्षित हुए। इनमें सबसे प्रथम नानक हैं। इन्होंने सूफ़ी और निर्गुण मतवादों को एक केन्द्र पर लाकर नानक-पन्थ की नींव डाली। साथ ही उन पर मुसलमानी एकेश्वरवाद का भी प्रभाव था। परन्तु हम देखते हैं कि शीघ्र ही निर्गुण सम्प्रदाय में निराकारोपासना और एकेश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त शिथिल हो गये। धीरे धीरे सामान्य हिन्दू मत का प्रभाव बढ़ा। नानक पन्थ के बाद के गुरुओं की रचनाओं में उत्तरोत्तर अधिक हिन्दू भावना मिलती है। यहाँ तक कि औरंगजेब के समय में गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्ख-पंथ को लगभग शतांश हिन्दू रूप दे दिया। हमें यह समझना चाहिए कि परवर्ती निर्गुण पन्थ को सगुण भक्ति और हिन्दू पुनरुत्थान ने महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। मुसलमानों के अत्याचारों के कारण सतनामी और सिक्ख साधारण हिन्दू भावना के अधिक निकट आते गये जिससे वे अत्याचारी मुसलमानों से सामूहिक मोर्चा ले सकें।

नीचे हम कुछ सिक्ख सन्तों की रचना उद्धृत करते हैं। इनके मूल में वही भावनाएँ मिलेंगी जो अन्य सन्तों के काव्य में प्रतिष्ठा पा रही है—

१—हौं कुरबाने जाउँ पियारे, हौं कुरबाने जाउँ
हौं कुरबाने जाउँ तिन्हाँ दे लैन जो तेरा नाउँ
लैन जो तेरा नाउँ तिहाँ दे, हौं सद कुरबाने जाउँ
काया रंगन जो थिये प्यारे, पाइये नाउँ मजीठ
रंगनवाला जे रंगे साहिब ऐसा रंग न दीठ
जिनके चोलड़े रतड़े प्यारे कंत तिहाँ के पास
धूड़तिहाँ कीं जें मिले जी को, नानक की अरदास

२—काहे रे बन खोजन जाई
सर्व निवासी सदा अलेपा तोही संग समाई
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है मुकर माहिं जस छाई
तैसे ही हरि बसै निरन्तर घट ही खोजों भाई
बाहर-भीतर एकै जानौ यह गुरु ज्ञान बताई
जन नायक बिन आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई

३—पवणु प्राणी पिता माता धरति महत्तु
दिवस रात दुइदाई दाया खेलै सकल जगत्तु
चंगियाइयां बुरियाइयां बाचै धरमु हदूरि
करनी आपो आपणी के नेड़े के दूरि
जिन्नी नाम ध्याइया गये मसकूति धालि
नानक ते मुख उज्जले केती छुट्टी नालि

(नानक)

जा सुख ता सहु रागियो दुख भी सँभालै ओइ
नानक कहै सियाणीये यों कंत मिलावा होइ

(अंगद)

हौं क्या सालाही किरम जंतु बड्डी तेरी वडियाई
तू अगम दयालु अगम्म है आदि लेहि मिलाई
मै तुझ बेला को नहीं, तू आंति सखाई
जो तेरी सरणागती तिन लेहि छुड़ाई
नानक के परवाह है किस तिल न समाई

(गुरु रामदास)

गावहु राम के गुण गीत
नाम जपत परम सुख पाइये आवागवणु मिटै मेरे मीत

गुण गावत होवत परगास, चरण कमल महँ होय निवास
सतसंगति मह होइ उधार, नानक भव जल उतरिय पार
(गुरु अर्जुन)

प्रानी नारायन सुधि लेइ
छिनु छिनु औधि घटे निसि बासर वृथा जात है देइ
तरुनापो बिखयन स्यों खोये बालापन अज्ञाना
बिरध भयो अजहू न समझै कौन कुमति उरझाना
मानुस जन्म दियो जेहि ठाकुर सो तैं क्यों बिसरायो
मुकति होति नर जाके सुमिरे निमख न ताको गायो
माया को मदु कहा करतु है संग न काहू जाई
नानक कहत चेतु चिंतामणि होइ है अन्त सहाई
(गुरु तेगबहादुर)

कबीर के बाद सन्तकाव्य में दादू का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा और भाव दोनों के विकास की दृष्टि से दादू-साहित्य का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

दादू का साहित्य भी साखियों और शब्दों में है। विषय लगभग वही हैं जो अन्य सन्तों के हैं परन्तु काव्य में माधुर्य और सहजानुभूति कबीर के काव्य से भी अधिक है। उसमें उक्ति-वैचित्र्य, चमत्कार और भाषा का असमानत्व नहीं मिलेगा, यही कारण है कि दादू के कितने ही पद तन्मयता और भाव-प्रकाशन की उत्कृष्टता में कबीर के पदों से भी ऊपर उठ गये हैं; परन्तु उन्हीं कारणों से उनके विरह के पदों में निर्गुण सत्ता का रूप अत्यन्त स्थूल हो गया है जिससे उसमें अनायास ही सगुणत्व का आरोप हो जाता है।

हम देखते हैं कि निर्गुण काव्य की निर्गुण भावना शीघ्र ही सगुण भक्तिकाव्य-भावना के समतल पर आ जाती है, उसके कई कारण हैं।

सन्तों का "राम" का निर्गुण परिभाषा में प्रयोग एक भूल थी। साधारण जनता राम को अवतार समझती थी। रामभक्ति के प्रचार के साथ "राम" का निर्गुण राम शीघ्र ही लुप्त हो गया। कम से कम वह सन्त सम्प्रदायों से बाहर ग्राह्य नहीं हुआ। स्वयं सन्त-सम्प्रदाय में "राम" द्वि-अर्थक रूप में प्रयोग में आने लगा--

१--साधारण सगुणोपासक जन-भावना का प्रभाव।

२--सगुण भक्तिधारा का प्रभाव।

३--सन्तों की विरह की तन्मयता ने उनके निर्गुण आराध्य को सगुणवाद के धरातल पर पहुँचा दिया। स्वयं कबीर के काव्य में हमें अपरोक्ष में रूप-गुण-स्थापन का भ्रम होने लगता है।

४--मूल सन्त-भावना स्वयं औपनिषदिक निर्गुण और पौराणिक सगुण मतवादों का विचित्र मिश्रण था। दादू के अनेक पदों को सगुणोपासक भक्त कवियों के पदों के सम्मुख रखा जा सकता है, जैसे

हमारे तुमही हो रखपाल
तुम बिन और नहीं कोउ मेरे भौ दुख मेटणहार
बैरी पंच निमष नहिं न्यारे रोकि रहे जम काल
हा जगदीस दास दुख पावै स्वामी करो सँभाल
तुम बिन राम दहै ये सुन्दर दसौं दिसा सब काल
देखत दीन दुखी क्यों तुम हौ दीनदयाल
निर्भय नाँव हेत हरि दीजे दरसन परसन लाल
दादू दीन लीन करि लीजे, मेटहु सबै जंजाल

हरि रस माते मगन भये
सुमिर सुमिर भये मतवाले, जामण मरण सब भूलि गये
निर्मल भगति प्रेम रस पीवैं आन न दूजा भाव धरैं
सहजै सदा राम रंगिराते मुकति बैकुण्ठे कहा करैं

गाइ गाइ रसलीन भये हैं, कछू न माँगै सन्त जनाँ
और अनेक देहु दल आगे आन न भावै राम बिनाँ
इकटग ध्यान रहै तमौ लागे छाकि परे हरि रस पीवैं
दादू मगन रहै रसमाते, ऐसे हरि के जन जीवैं

मूल अध्यात्म तत्त्व के प्रति आत्मा की तीव्र अनुभूति को व्यक्त करने के लिए सन्तों ने पुरुष-स्त्री के लौकिक प्रेम को प्रतीक के रूप में ग्रहण किया परन्तु उनकी तन्मयता के कारण प्रतीक रूपक मात्र न रह सका, वही सब कुछ हो गया। दादू की प्रेम और विरह की कविताएँ बड़ी मार्मिक हैं—

बाला सेज हमारी रे, तूँ आव हौं वारी रे
हौं दासी तुम्हारी रे ॥ टेक ॥
तेरा पंथ निहारूँ रे, सुन्दर सेज सँवारू रे
जियरा तुम पर वारूँ रे
तेरा अँगना पेखौं रे, तेरा मुखड़ा देखौं रे
जब जीवन लेखौं रे
मिलि सुखड़ा दीजै, यह लाहड़ा लीजै रे
तुम देखें जीजै रे
तेरे प्रेम की माती रे तेरे रँगड़े राती रे
दादू वारणों जाती रे

अजहूँ न निकसै प्राण कठोर ॥ टेक ॥
दरसन बिना बहुत दिन बीतै, सुन्दर प्रीतम मोर
चारि पहर चारौं जुग बीते, रैन गँवाई मोर
अवधि गई अजहूँ नहिं आए, कतहुँ रहे चित चोर
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर
दादू ऐसे आतुर विरहणि जैसे चंद चकोर

सुन्दरदास ने सन्तकाव्य में भाषा और कवित्व की श्रेष्ठता को भी स्थान दिया। सन्त कवियों में वही पहले हैं जिन्होंने प्रचलित कवित्त छन्द का प्रयोग किया है और काव्यगुण एवं अलंकारों की भी एकदम उपेक्षा नहीं की है। काशी-निवास, संस्कृत साहित्य से परिचय एवं सगुण भक्तों के सत्संग के कारण सुन्दर के काव्य में पौराणिक हिन्दू धर्म-दर्शन भी पर्याप्त मात्रा में उपस्थित है, परन्तु साथ ही उसमें सन्त-मत के लगभग सभी अंगों पर ज्ञानमूलक विवेचनात्मक प्रकाश भी डाला गया है। अन्य सन्त कवियों के काव्य में आत्मानुभूति का आधार अधिक है, अतः उसमें सन्तमत की वैज्ञानिक परीक्षा में सहायता नहीं मिलती, परन्तु सुन्दरदास का काव्य इस दिशा में बड़ी सहायता कर सकता है। उदाहरण के लिए नीचे उद्धृत पद से सन्तमत का आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो सकता है—

प्रीति सी न पाती कोऊ, प्रेम से न फूल और
चित्त सों न चन्दन, सनेह सों न सेहरा
हृदय सों न आसन, सहज सों न सिंहासन
भाव सों न सेज और सून्य सों न गेहरा
सील सों न स्नान अरु ध्यान सो न धूप और
ज्ञान सों न दीपक, अज्ञान तम केहरा
मन सी न माला कोऊ, सोहं सो न जाप और
आतम सों देव नहिं, देह सों न देहरा

धरनीदास की कविता में दादू की कविता जैसी कोमलता के दर्शन होते हैं; उतनी ही तन्मयता है—

हरिजन वा मद के मतवारे
जो मद बिना काठि बिनु भाठी बिनु अगिनहिं उदगारे
बास अकास धराधर भीतर बूँद झरे झलकारे

चमकत चन्द अनन्द बढ़ो जिव शब्द सधन निरुवारे
बिनु कर धरे बिना मुख चाखे बिनहिं पियाले ठोर
ताखन स्यार सिंह को पौरुख जुत्थ गजन्द बिडोर
कोटि उपाय करै जो कोई अयल न होत उतारे
धरनी जो अलमस्त दिवाने सोइ सिरताज हमारे

कंत दास बिनु बावरी

मो तन ब्यापै पीर पीतम की, मूरुख जानै आवरी
पसरि गयो तरु प्रेम साखा सखि बिसरि गयो चित चावरी
भोजन भवन सिंगार न भावै, कुल करतूति अभाव री
खिन खिन उठि-उठि पंथ निहारों बार बार पछिताव री
नैनन अंजन नींद न लागै, लागै दिवस विभाव री
देह देस कछु कहत न आवै, जस जल ओछे नाव री
धरनी धनी अजहुँ पियन पाओ, तो सहजै अनन्द बधाव री

इस समय तक सन्तकाव्य प्रचुर मात्रा में तैयार हो गया था। भाषा और विषय के सम्बन्ध में मौलिकता लाना कठिन था। अतः कुछ सन्त कवियों ने छन्द और रस के सम्बन्ध में नई उपज की चेष्टा की। हम देख चुके हैं कि सुन्दरदास ने कवित्त और सवैया छन्दों के प्रयोग किये। उनके काव्य का बहुत बड़ा भाग इन छन्दों में है। पलटूदास ने अरिल, झूलना, रेख़्ता आदि छन्दों में बहुत कुछ कबीर के भावों को उसी शैली में बदल कर रख दिया। उनकी कुण्डलियां प्रसिद्ध है—

कुण्डलियां

पिय को खोजन मैं चली आपुइ गई हिराय
आपुइ गई हिराय कवन अब कहै सँदेसा
जेकर पिय मैं ध्यान भई वह पिय के भेसा
आगि मांहि जो परै सोऊ अगनी ह्वै जावै

भृङ्गी कीट को मेटि आपु सम लेइ बनावै
सरिता बहि के गई सिन्धु में रही समाई
सिव सक्ती के मिले नहीं फिर सक्ती आई
पलट दिवाले कह कहा मत कोउ झांकन जाय
पिय को खोजन मैं चली आपुइ गई हेराय

रेखता

नाचना नाचु तो खोलि घूँघट कहै
खोल कै नाचु संसार देखै
खसम रिझाव तो ओटि को छोड़ि दे
मर्म संसार कौ दूरि फेंकै
लाज किसकि करै ख़सम से काम है
नाचु भरि पेट फिर कौन छेंके
दास पलटू कहै तुहीं सुहागिनी
सोय सुव सेज तू ख़सम एकै

जगजीवन साहिब के काव्य में वैष्णवकाव्यधारा की प्रमुख विशेषताएं—भगवान के प्रति आत्मसमर्पण और आत्मग्लानि—इतनी अधिक मात्रा में मिलती हैं कि उनका काव्य वैष्णव काव्य-साहित्य में विशेषकर तुलसी-सूर के विनय पदों में बड़ी सरलता से खपाया जा सकता है फिर भी इन्होंने सन्त काव्य के सभी विषयों पर लिखा है और इनके काव्य की मूल धारा कबीर से अधिक भिन्न नहीं है। यह अवश्य है कि सामूहिक रूप से इनका काव्य अन्य सन्त कवियों के काव्य की अपेक्षा वैष्णव काव्य के अधिक निकट है—

हम तें चूक परत बहुतेरी।
मैं तो दास अहौं चरनन का हमहूँ तन हरि हेरी
बाल ज्ञान प्रभु अहै हमारा झूँठ साँच बहुतेरी

सो औगुन गुन का कहौं तुमते भवसागर तें निबेरी
भव तें आयौ तव सरणे कहत अहौ अस टेरी
जगजीवन की बिनती सुनिये रखौं पत जन केरी

भीखा साहिब के काव्य में भाव की दृष्टि से कोई नूतनता नहीं है, परन्तु अनेक पदों में भाव प्रकाशन की न्यूनता अवश्य है। कहीं-कहीं शब्द चित्र बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। हम यह नहीं कह सकते कि उनके द्वारा निर्गुण की अनुभूति कितनी सच्चाई तक अभिव्यक्त होती है, परन्तु काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से ऐसे पद सन्त काव्य के नीरस पदों में एक सुन्दर विभिन्नता उपस्थित करते हैं। उदाहरण के लिए अनहद नाद (शब्द) का चित्रण इन शब्दों में किया गया है—

धुनि बजत गगन महँ बीना, जहँ आपु आपुरस भीना
भेरी ढोल संख सहनाई, ताल मृदंग नवीना
सुर जहँ बहुतै मौज सहत उठि परत है ताल प्रवीना
बाजत अनहद नाद गहागह, धुधुंकि धुधुंकि सुर झीना
अंगुरी फिरत तार सातहुँ पर, लय निकसत भिन भीना
पाँच पचीस बजावत गावत, निर्त चारु छवि छीना
उघटत तननन धिता धिता, कोउ ताथेइ थेइ तत् कीन्हा
बाजत ताल तरंग बहु, मानो जंत्री जंत्र कर लीन्हा
सुनत सुनत जिव थकित भयो, मानो ह्वै गयो सबद अधीना
गावत मधुर चढ़ाय उतारत, रुनझुन रुनझुन झीना
कटि किंकिम पंगु नूपुर की छवि सुरति निरति लौ लीना
आदि सबद ओंकार उठतु है, अटुट रहत सब दीना
लागी लगन निरन्तर प्रभु सों, भीखा जल मन मीना

उन्नीसवीं शताब्दी के सन्तकाव्य में कोई मौलिकता नहीं है। उसको साम्प्रदायिक रूप में भाव और भाषा की प्राचीन परिपाटी से जकड़

दिया गया है। जिस तरह अन्य प्राचीन धाराओं में; उसी तरह यहाँ भी हम नवीनता का नितान्त अभाव पाते हैं। वही पिष्टपेषण। चरण-दास का काव्य इसी कोटि का आता है। सतगुरु ने धीरे धीरे वही स्थान प्राप्त कर लिया है जो सगुण काव्य में सगुण ब्रह्म और उसके अवतार का स्थान है। उनकी भी एक विशिष्ट धारा है। चरणदास कहते हैं:—

सतगुरु निज पुर धाम बसाये
जिनके गये अमर ह्वै बैठे भव-जल बहुरि न आये

हिन्दू पौराणिक भावना ने भी स्थान पा लिया है। परन्तु साम्प्रदायिक संकीर्णता के सहारे प्राचीन निर्गुण भावना उसी दृढ़ता से चल रही है जिस दृढ़ता का परिचय उसने कबीर के काव्य में दिया है।

दयाबाई और सहजोबाई चरणदास की शिष्याएं थीं। सहजोबाई के काव्यसंग्रह में सगुण भावना के भी कुछ पद मिलते हैं। जैसे यह पद—

मुकुट लटक अटकी मन माहीं
निरतत नटवर मदन मनोहर कुण्डल झलक पलक बिथुराई
नाक बुलाक हिलत मुक्ताहल होठ मटक गति भौंह चलाई
ठुमक ठुमक पग धरत धरनि पर, बाँह उठाय करत चतुराई
झुनक झुनक नूपुर झनकारत, तताथेई थेई रीझाइ रिझाई
चरनदास सहजा हिये अन्तर भवन करो जित रहौ सदाई

दोनों कवियित्रियों में गुरु-भावना अत्यन्त बलवती है—

गुरु बिनु ज्ञान ध्यान नहीं होवै
गुरु बिनु चौरासी मग जोवै
गुरु बिनु रामभक्ति नहिं जागै
गुरु बिनु असुभ कर्म नहिं भागै

गुरु ही दीन दयाल गुँसाई
गुरु सरनै जो कोई जाई
पलटै करै काग सूँ हंसा
मनकी मेटत है सब संसा
गुरु है सब देवन को देवा
गुरु की कोउ न जानत मेवा
करुनासागर कृपा - निधाना
गुरु है ब्रह्म रूप भगवाना

(दयाबाई)

राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ। गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ॥
हरि ने जन्म दियो जग माहीं। गुरु ने आवागमन छुटाहीं॥
हरि पाँच चोर दिये साथा। गुरु ने लई छुड़ाय अनाथा॥
हरि ने कुटुम्ब जाल में गेरी। गुरु ने कटता ममता बेरी॥
हरि ने रोग-सोग उरझायो। गुरु ने आतम रूप लखायौ॥
हरि ने मोसूँ आप छिपायो। गुरु दीपक दै ताहि दिखायौ॥
फिर हरिबंध मुक्ति गति लाये। गुरु ने सब ही भर्म मिटाये॥
चरनदास पर तन मन वारूँ। गुरु को न तजूँ हरि को तजि डारूँ॥

(सहजाबाई)

इन सन्त कवियों के अतिरिक्त अनेक सन्तों की वृहद् वाणियाँ प्राप्त हैं। इनमें सन्त साहित्य के विषयों की अनेक पदों में अनेक रूपों में पुनरुक्ति मिलेगी। यह विश्वास करना कठिन है कि सभी सन्त एक ही आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचे हुए थे और उनके अनुभव एक ही प्रकार के थे, परन्तु कदाचित् सन्तकाव्य की बंधी परिपाटी के कारण सब सन्तों ने एक ही प्रकार से आत्मानुभूति प्रगट की है। इस आत्मानुभूति में सच्चाई कितनी है यह जानने के लिये हमारे पास कोई

साधन नहीं है। इन अन्य कवियों में यारी साहब, गुलाल साहब, बुल्ला साहब, केशवदास, दरिया साहब, दूलनदास, ग़रीबदास और काष्ठजिह्वा स्वामी मुख्य है। इन कवियों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि किस प्रकार कालान्तर में सन्तकाव्य में सूफ़ी सिद्धान्त और राम-भक्ति (सगुण) मिल गये हैं —

सुन्न के मुकाम में बेचून की निसानी है।
जिकिर रूह सोई अनहद बानी है॥
अगम के गम्म नाहीं झलक पिसानी हैं।
कहै यारी आपा चीन्हें सोई ब्रह्म ज्ञानी है॥

(यारी)

जब गज अरध नाम गुहरायो
जब लगि आवै दूसर अक्षर, तब लगि आपुहि धायो
पाँच पियादे ली करुनामय, गुरुड़ासन बिसरायो
धाय गयन्द गोद प्रभु लीन्हों, आपनि भक्ति दिढ़ायो
मीरा को विष अमृत कीन्हों, बिमल सुजस जग ध्यायो
नामदेव हित कारने प्रभु तुम, मिनक गाय जियायो
भक्त हते तुम जुग जुग जनमेउ, तुमहिं सदा यह भायो
बलि बलि दूलनदास नाम की, नामहिं ते चित लायो

(दूलनदास)

मतवालों की महल की सूफी क्या पावै
अरस खरदनी खीर है सतगुरु बतलावै
सुन्न दरीबेक हाट है जहँ अमृत भुवता
ज्ञानी घाट न पावहीं रणली सब करिता
ठाँ बिकै नहिं मोल कूं जो तुलै न तौला
कूंची सबद लगाय कर सत गुटल पटल खोला

फूल झरै भाठी भौं जहँ फिरैं पियाले
नूरमहल बेगमपुरा घूमे मतवाले
त्रिकुटी सिंघ पिछान ले तिरवेनी धारा
बेड़ बाट विहंगमी उतरै भौ पारा
अठंसठ तीरथ ताल है उर तरवर माहीं
अमरकन्द फल नूर के कोइ साधू खाहीं

(गरीबदास)

बसो मन सिय रघुवर को ध्यान
स्यामल गौर किसोर बयस दोउ जे जानहुँ की जान
लटकत लट लहरत स्तुति कुण्डल गहनन की झनकान
आपुस मे हँसि हँसि के दोउ खात खियावत पान
जहँ बसन्त नित महमह महकत लहरत लता वितान
विहरत दोउ तेहि सुमन बाग में अलि कोकिल कर गान
ओहि रहस्य सुख रस को कैसे जानि सकै अज्ञान
देवहु की जहँ मति पहुँचत नहिं थकि गये वेद पुरान

(काठजिह्वा स्वामी)

जिन लोगों ने सन्त-काव्य को विदेशी प्रभाव से दूषित समझा है, उन्होने सत्य की बड़ी दूर तक अवहेलना की है। हम यह तो देख ही चुके हैं कि किस तरह निर्गुण भावना की परम्परा उपनिषदों के समय से चली आती है, किस प्रकार रूपों के पीछे अव्यक्त सत्ता की स्थापना की गई है, कैसे अन्तस्साधना को उसकी प्राप्ति का साधन माना गया है। यह धारा ही बौद्ध साधकों और नाथपन्थियों में होती हुई अधिक बलवती रूप से सन्तकाव्य में प्रकाशित हुई है। अन्तस्साधना पर बल सन्तधारा की मूल भावना समझी जानी चाहिये। जिस युग में रामानन्द, कबीर आदि हुए उस युग में आचार्य और सवर्ण सन्त-महात्मा

वैष्णव-पुनरुत्थान की ओर सचेष्ट थे। भागवत और रामायणों को लेकर रामकृष्ण के अवतारों की पूजा चली। देवी भागवत आदि के आधार पर आदिशक्ति के रूप में चण्डी आदि देवियों की कल्पना की गई। निम्न वर्गों के लोग सामाजिक दृष्टि से अस्पृश्य थे, अतः सवर्णों के मन्दिरों और पूजा स्थानों में उनका प्रवेश निषिद्ध था। उनकी जागृति ने जाति-पाँति और छुआछूत द्वारा स्थापित वर्णभावना के विरोध का रूप धारण कर लिया।

सन्त-काव्य के सबसे प्रसिद्ध कवि कबीर हैं। उन्हें ही हम इस काव्य-धारा का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं। उनकी कविता इस विचारधारा के प्रवर्तन के लिए महत्वपूर्ण है, परन्तु इससे भी महत्व-पूर्ण उनका व्यक्तित्व है। सन्त कवियों के काव्य में कबीर का जो प्रभाव है और भक्त कवियों ने उनके सिद्धान्तों से जिस तीव्रता से विरोध प्रगट किया है, वह उनके व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। कबीर एक अत्यन्त स्वतन्त्रचेत्ता, मस्तमौला और अक्खड़ धर्म-जिज्ञासु थे जिन्होंने लोकधर्म और लोकाचार को किसी भी रूप में स्वीकार न करने का बीड़ा उठा लिया था। जहाँ तक भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास का सम्बन्ध है, इतना अक्खड़ व्यक्तित्व किसी भी धर्मोपदेशक का नहीं है। वे झुकना तो जानते ही नहीं थे, टूटना भी नहीं जानते थे। यह स्वतंत्र व्यक्तित्व जब व्यंग के भीतर से बोलता है, तो हम आश्चर्य से उंगली दाँतों तले दबा लेते हैं। ऐसी व्यक्तित्व की तेज़ मशाल और किसकी थी? सीधी-सीधी भाषा में तेज़ से तेज़ व्यंग कर गुज़रना, अपनी ओर से एकदम निश्चिंत होकर भाषा और भावना की सारी शक्ति का व्यय विरोधी के सिर पर देना—यह बातें कबीर की विशेषता हैं। उनका व्यक्तित्व उनके व्यंगों और तीव्र आक्षेपों में चमक उठता है—

चिउँटी के पग नेवर बाजे सो भी साहब सुनता है

पंडित होय के आसन मारै, लम्बी माला जपता है
अन्तर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है
ऊँचा-नीचा महल बनाया, गहरी नींव जमाता है
चलने का मनसूबा नाहीं, रहने को मन करता है
कौड़ी - कौड़ी माया जोड़ी, गाड़ि जमीं में करता है
जेहि लहना है सो लै जइहैं, पापी वहिं वहिं मरता है
सतवन्ती को गजी मिलै नहीं, वेश्या पहिरै खासा है
जेहि घर साधु भीख न पावै, भँडुवा खात बतासा है
हीरा पाय परख नहिं जानै, कौड़ी परखन करता है
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे का तैसा है

इस प्रकार के कथन में जहाँ ऊँचे दरजे का तत्व ज्ञान है, वहाँ उतने ही ऊँचे दरजे का आत्मविश्वास भी है। केवल तत्व-विज्ञान के बल पर कोई इतनी तेज भर्त्सना नहीं कर सकता। उनके तर्क बड़े कड़े हैं, परन्तु वे अत्यन्त लापरवाही से उनका प्रयोग करते हैं। जीवन के विभिन्न पहलुओं से इकट्ठे किए हुए अनुभव उनके आक्रमण को बलवान बना देते हैं।

उनके इस आत्मविश्वास के मूल में अवश्य ही उनका चरित्र-बल है। इसी चरित्र की शुद्धता और दृढ़ता के कारण कबीर सभी मत-मतान्तरों का विरोध करते हुए भी सहस्रों-सहस्रों मनुष्यों के जीवन को प्रभावित करने में सफल हुए। जिसमें चारित्रिक शुद्धता और तत्प्राप्त साहस नहीं होता, वह इतने ऊँचे स्वरों से नहीं बोलता—

झीनी झीनी बीनी चदरिया

काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौने तार से बीनी चदरिया
इंगला पिंगला ताना-भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया

साईं को सियत मास दस लागै, ठोक ठोक के बीनी चदरिया
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़िन, ओढ़ि के मैली कीन्ही चदरिया
दास कबीर जतन से ओढ़िन, ज्यों कै त्यों धर दीनी चदरिया

अन्तिम पंक्तियों में जो भाव है, वह अद्वितीय है। यह चरित्र-बल की दृढ़ता ही कबीर की सफलता का मूल मन्त्र है। इस उक्ति में दम्भ नहीं, पाखण्ड नहीं, अपनी महत्ता की स्वीकृति नहीं। इसमें आत्म-विश्वास की तीक्ष्णता अवश्य है जो किसी भी प्रकार अनुचित नहीं कही जा सकती। जो कुछ कहा गया है, वह हृदय में आदर उठाता है, मन को विश्वास के लिए आग्रह करता है। उससे हृदय में विद्रोह नहीं जागता।

परन्तु केवल चरित्रबल ही वह शक्ति नहीं दे सकता जो कबीर के व्यक्तित्व के द्वारा उनके काव्य में प्रस्फुटित हुई है। वह है विश्वास-पूर्ण आत्मानुभव। कबीर निर्भीकता से पुकार-पुकार कर कहते हैं—

मेरा तेरा मनुआँ कैसे इक होय रे
मैं कहता हौं आँखिन देखी।
तू कहता कागद की लेखी॥
मैं कहता सुरझावन हारी।
तू राख्यो अरुझाइ रे॥

जिसे अपने आत्मानुभव में अखण्ड विश्वास नहीं हो, वह ऐसी बात कैसे कह सकता है। कबीर पंडित नहीं थे, तर्कशास्त्री नहीं थे। उनका ज्ञान व्यवहार-जन्य था। उनका तर्क आत्मानुभव से पुष्ट था। तर्क की बातें चक्कर में डाल देती हैं। उनकी भाषा साफ़ नहीं होती—कबीर के शब्दों में उलझाने वाली होती हैं। कबीर की भाषा इसी-लिए इतनी चमत्कारिक है कि उन्होंने व्यर्थ तर्कजाल में पड़कर व्याव-

हारिक ज्ञान और लोकानुभव के सहारे पाखण्डों पर चोट की है। उनके चोट करने का ढङ्ग इस पद से साफ हो जायगा—

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय
सतुवा कराइन बहुरी भुंजाइन, घूँघट ओटे मसकत जाय।
गठरी बाँधिन मोटरी बाँधिन, खसम के मूंडे दिहिन धराय॥
बिछुवा पहिरिन औंठा पहिरिन, लात खसम के मारिन धाय।
गंगा न्हाइन, जमुना न्हाइन, नौ मन मैल है लिहिन चढ़ाय॥
पाँच पचीस के धक्का खाइन, घरहूँ की पूँजी आई गँवाय।
कहत कबीर हेत कर गुरु सों, नहिं तोर मुकुती जाइ नसाय॥

यहाँ व्यंग की तेजी है, परन्तु वह सुननेवाले को मज़ा देती है और कहने वाले को तृप्त करती है। इसकी चोट भी इतनी गहरी है कि हृदय ही जानता है।

परन्तु इस सब का तात्पर्य यह नहीं है कि कबीर का व्यक्तित्व कठोर था। सच तो यह है कि वह जितना कठोर था उतना ही कोमल था। यह कोमलता उनकी भक्तिभावना द्वारा आती है। जो इस अद्वैतभाव का उपासक है कि

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या?
रहे आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या?
जो बिछुड़े हैं पियारे से भटकते दर-बदर फिरते
हमारा यार है हममें हमन को इन्तजारी क्या?

उसका विरोध कितना ही कठोर हो, वह प्रेम का ही विरोध हो सकता है, घृणा का नहीं हो सकता। वह बाहर से चाहे जितने कठोर हैं, भीतर से अत्यन्त कोमल हैं। संसार के माया जाल में लिप्त मानव-जीवन की असारता और काल की सर्वग्रासिता को देख कर कबीर रोते हैं—

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबत रहा न कोय॥

विनय-भावना में तो वे भक्त-कवियों को भी मात करते हैं। भला किस भक्त कवि ने इतनी नम्रता दिखाई है, इतना गहरा आत्मसमर्पण किया है जैसा कबीर की इन साखियों में किया गया है—

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाऊँ
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाऊँ
तो तो करै तो बाहुड़ैं, दुरि दुरि करै तो जाऊँ
ज्यूं हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवैं सो खाऊँ

स्पष्ट है, जहाँ पाखण्डों के प्रति कबीर कठोर हैं, वहाँ सामान्य-जीवन के प्रति विनम्र हैं। उनके व्यक्तित्व में अनेक विषय तत्त्वों का समावेश है। विनम्रता और अक्खड़पन, ज्ञान और भक्ति, आत्मग्लानि और आत्मविश्वास, सतर्कता और लापरवाही। यही विरोधी तत्त्व उन्हें जनता के लिए आकर्षक बना देते हैं। तुलसी को छोड़ कर और कोई भी कवि उत्तर-भारत की जनता के इतने समीप नहीं पहुँचा है।

निर्गुण सम्प्रदाय के सम्बन्ध में हमारे आचार्य भी एक मत नहीं हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"निर्गुण पंथ के सन्तों के संबंध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिये कि उनमें कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है। उन पर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप करके वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता ही प्रगट करेगा। उनमें जो थोड़ा-बहुत भेद दिखाई पड़ेगा वह उन अवयवों की न्यूनता या अधिकता के कारण जिनका मेल करके निर्गुण पन्थ चला है। जैसे, किसी में वेदान्त के ज्ञानतत्त्व का अवयव अधिक मिलेगा, किसी में योगियों के साधनातत्त्व का, किसी में सूफ़ियों के प्रेमतत्त्व का और किसी में व्यावहारिक ईश्वरभक्ति

(कर्त्ता, पिता, प्रभु की भावना से युक्त) का। × × ×
निर्गुणतत्त्व में जो थोड़ा बहुत ज्ञान है वह वेदान्त से लिया हुआ है, जो प्रेमतत्व है वह सूफ़ियों का है, न कि वैष्णवों का। 'अहिंसा' और 'प्रपत्ति' के अतिरिक्त वैष्णवत्व का और कोई अंश उसमें नहीं है। उसके 'सुरति' और 'निरति' शब्द बौद्धों के हैं। बौद्ध धर्म के अष्टांग-मार्ग के अन्तिम मार्ग हैं—सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। 'सम्यक् स्मृति' वह दशा है जिसमें क्षण-क्षण पर मिटनेवाला ज्ञान स्थिर हो जाता है और उसकी शृङ्खला बँध जाती है। 'समाधि' में साधक सब वेदनाओं से परे हो जाता है। अतः 'सुरति' 'निरति' शब्द योगियों की बानियों से आये हैं; वैष्णवों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।" ऊपर जो कहा है उसे हम इस प्रकार तालिका-बद्ध कर सकते हैं—

१—निर्गुण मत के दार्शनिक मतवाद भेद पर आग्रह करना उचित नहीं है। आचार्यों की तरह सन्त न दर्शन के पंडित थे, न दार्शनिक मतवादों की स्थापना उनका ध्येय था। वे तत्वदर्शी थे। जैसा उन्हें सूझा, वैसा उन्होंने जनता को समझाया।

२—फिर भी पूर्ववर्ती दार्शनिक और धार्मिक मतवादों से उन्हें बहुत कुछ ग्रहण करना पड़ा। सिद्धों और नाथों के अनेक पारिभाषिक शब्द उन्हें उधार लेने पड़े। उन्होंने मन-चाहे अर्थों में, नये सन्दर्भ के साथ इन शब्दों का प्रयोग किया, परन्तु इसके लिए वे विवश थे।

३—निर्गुणतत्व ज्ञान पर निम्न-लिखित विचार-धाराओं का प्रभाव है—

(क) वेदान्त

(ख) बौद्ध अनात्मवाद (निर्गुण शून्यवाद)

(ग) योगियों की योग साधना जिसमें हठयोग, ध्यान, धारणा और समाधि का प्रमुख स्थान था।

(घ) सूफ़ियों का प्रेमवाद।

परन्तु आचार्य शुक्ल जी ने जो कहा है–"'अहिंसा' और 'प्रपत्ति' के अतिरिक्त वैष्णवत्व का और कोई अंश उसमें (निर्गुण मत में) नहीं है" यह भ्रमपूर्ण है। वास्तव में अन्य विचारधाराओं की अपेक्षा वैष्णव विचारधारा का प्रभाव अधिक है। मूर्तिपूजा, वाह्याडम्बरों और अवतारवाद के विरोध के कारण यह साम्य रुक गया है, परन्तु नैतिक और आध्यात्मिक अनेक आदर्शों के लिए सन्त मत वैष्णव मतवाद का ही ऋणी है। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में जो सन्त की परिभाषा दी है, वह वैष्णव भक्त और निर्गुण सन्त पर एक ही प्रकार लागू हो जाती है। वैष्णवों ने स्वयं बार-बार सन्तों का भावुकतापूर्ण उल्लेख किया है। अतः सन्त-विचारधारा और वैष्णव-विचारधारा में बहुत असमानता नहीं है। वास्तव में अनेक प्रकार से सन्त-विचारधारा वैष्णव-विचारधारा का पूर्व रूप है।

५

वैष्णव-कविता

हिन्दी साहित्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाय तो जो बचेगा वह इतना हलका होगा कि हम उस पर किसी भी प्रकार गर्व नहीं कर सकेंगे। लगभग ३०० वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाये है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर —इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे साहित्य में ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कंठमात्र हैं।

वैष्णव कवियों के काव्य का जन्म परिस्थितिवश हुआ, परन्तु उसमें भारतीय संस्कृति और परम्परागत आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई। उसकी एक बात ऐसी है जो अन्य स्थान पर नहीं मिलेगी। वह जहाँ उच्चतम धर्म है, वहाँ उच्च कोटि का काव्य भी है। उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन स्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। जैसी भक्ति इस साहित्य में है, वैसी बाइबिल के कुछ गीतों को छोड़ कर पश्चिमी साहित्य में कहीं नहीं मिलेगी। नवधा भक्ति के प्रकारों में से प्रत्येक प्रकार की भक्ति इसमें है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य अमूल्य है। रसराज शृङ्गार का इतना सुन्दर और सांगोपांग चित्रण कहीं नहीं हुआ, विरह की आकुलता और मिलन के उल्लास को इतनी पूर्णता से कहीं भी चित्रित नहीं किया गया। मनुष्य के स्वभाव और उसके अन्तर्द्वन्द के सुन्दरतम चित्रण हमें "रामचरितमानस में मिलेंगे। राधा-कृष्ण और राम-सीता के रूप में स्त्री-पुरुष के सौन्दर्य के इतने अमोल चित्र इतनी अधिक परिस्थितियों में यहीं मिल सकते हैं।

इस साहित्य की यह खूबी है कि इससे हृदय, मन, आत्मा तीनों पुष्ट होते हैं। इसे काव्यानन्द का विषय बनाइये। रसों, अलंकारों, व्यंगपूर्ण स्थलों, भावपुष्ट, संवादों, उत्तमोत्तम चरित्रों का आनन्द लीजिये। इसे अध्ययन का विषय बनाइये। संसार के संतों और पैगम्बरों के कहे हुए उत्तमोत्तम सिद्धान्त इसमें हैं, ढूंढ़ने की विशेष आवश्यकता नहीं। चाहो तो मन उन दार्शनिक और आध्यात्मिक गुत्थियों में उलझा लो जो कबीर और तुलसी के साहित्य में उपस्थित हैं। आत्मा को उच्च बनाने के लिए उसे साधना का विषय बनाइये। इतिहास साक्षी है कि यही साहित्य पिछली कई शताब्दियों से हमारी आध्यात्मिक साधना को प्रगट करता रहा है और आध्यात्म साधकों की भूख मिटाता रहा है।

हिन्दी का वैष्णव साहित्य लोक-परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। वह काव्य के पंखों पर स्वर्ग और मोक्ष तक उड़ता है। परन्तु उसके पैर लोकहित के कठोर धरातल पर ही रहते हैं। सभी कवियों के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती परन्तु सामान्यतः यह बात सत्य से बहुत दूर नहीं है। सन्तों, रामभक्तों और कृष्णभक्तों ने शील, दया, क्षमा, आत्मावलम्बन, पर-दुःख-कातरता, संतोष, शम, दम आदि महान् वैयक्तिक गुणों की प्राप्ति को मनुष्य के लिये आवश्यक बताया है। उन्होंने अपने जीवन को इन्हीं गुणों पर खड़ा किया था और उनका काव्य इन्हीं संदेशों के कारण लोक-परोपकार करता रहा है। जिस युग में नैतिक आदर्शों की मर्यादा नितान्त जाती रही थी, जो उच्छृङ्खलता का अन्धकार-युग था, उसमें उन्होंने ब्रह्मचर्य, संयम और महान् नैतिक गुणों की स्थापना करने की चेष्टा की। इसी कलिभ्रष्ट-युग में तुलसी ने हिन्दू-मात्र को विजय रथ दिया। आत्म-निर्भरता और अपरिग्रह का सन्देश तो इनमें से प्रत्येक कवि का जीवन ही देता है—"सन्तन को कहा सीकरी सों काम"। यह उस समय

की बात है जब जात्याभिमानी राजपूत क्षत्रिय महाराज शस्त्र धारण करते हुए भी मुग़ल सम्राट् को अपनी बेटियाँ दे रहे थे और उसकी कोर्निश पर गर्व करते थे। इस वैष्णव साहित्य को छोड़ कर इन नैतिक आदर्शों की पुष्टि हमें कहाँ मिलेगी ? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कौन साहित्य हमारा मार्ग प्रदर्शित करेगा ?

वैष्णव-काव्य के कुछ आलोचक कृष्ण-काव्य पर जनता को पथभ्रष्ट करके वासना और पापाचार के कर्दम में गिराने का लांछन देते हैं। परन्तु वे इस साहित्य को कुछ मुट्ठी भर राजा-महाराजाओं की भूमिका में रख कर देखते हैं और भूल करते हैं। वे जन समाज को देखें। राधा-कृष्ण-काव्य ने क्या जन-समाज को व्यभिचारी बनाया है ? उसके लिए राधा राधा हैं, कृष्ण कृष्ण हैं। वे दोनों उसके लिए पूज्यनीय हैं। हाँ, वह उनके प्रेम-चरित्र के द्वारा रस परिष्कार का आनन्द लेता है। वह स्वयम् राधा बनता है, न कृष्ण। कृष्ण काव्य ने हिन्दी प्रदेश को वात्सल्य-रस की अनुभूति दी, शृङ्गार को संयमित किया। उसने घर-घर को यशोदा-सी माताएँ दीं। पति-पत्नी के सामने राधा कृष्ण प्रेम का आदर्श रखा। साहित्य में राधा परकीया रही हो या स्वकीया, लोक के जीवन में तो वे सदैव स्वकीया रही हैं। उन्होंने तरुण-तरुणियों के सपनों को चमकीले रंगों से रंगा है, उनके जीवन को रस से सिंचित किया है। पश्चिमी प्रदेश का गृहस्थ बालक को कृष्ण मान कर आकुल होता है कि उसे चौखट लाँघते हुए चोट न लगे, तरुण पति-पत्नी को राधा-रूप में देखता है। यदि जीवन में कृष्ण-राधा के चरित्र को लिया गया है तो इतना। राधा-कृष्ण की आड़ ले कर पुष्टिमार्ग के मन्दिरों में व्यभिचार की जो लीला हुई वह बहुत बाद की बात है। उसके मूल में जन-समाज का घोर अज्ञान और अन्ध-भक्ति है। कृष्ण-साहित्य ने न उसे प्रेरणा दी है, न उसे विकसित किया।

(क) कृष्ण-भक्ति-काव्य—श्रद्धामूलक, ज्ञानमूलक और रहस्य-मूलक भक्ति की परम्परा बहुत प्राचीन है और दास्य-भक्ति, सन्तों की भक्ति और सूफ़ियों की भक्ति के रूप में ये तीन प्रकार मध्ययुग के आरम्भ से ही चले आते थे। सूफियों और सन्तों की भक्ति-पद्धति वैष्णवों को अग्राह्य थी, अतः उन्होंने दास्य-भक्ति के प्रचार में विशेष भाग लिया। मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलनों में सूफ़ियों और सन्तों का भी महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु वैष्णव-भक्ति का स्थान इन दोनों से महत्वपूर्ण है। उसने समाज, संस्कृति और साहित्य पर इतना प्रभाव डाला जितना भक्ति के पिछले दो प्रकारों ने नहीं डाला। मध्य-युग में भक्ति का पहला प्रचार रामानुज के मायावाद के विरोध के सिलसिले में हुआ। रामानुज का भक्तिवाद उपनिषदों की उपासना के आगे न बढ़ सका। उनकी भक्ति-साधना में ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान था। उनकी भक्ति का अर्थ था भगवान का चिन्तन और चिन्तन का ज्ञान से निकट का सम्बन्ध है। भक्ति का यह ज्ञानाश्रित रूप केवल द्विजों के लिए उपस्थित किया गया था। शूद्रों के लिए रामानुज ने "प्रपत्ति" की व्यवस्था की थी जिसका अर्थ है ईश्वर पर सर्वथा आश्रित होकर आत्मविस्मरण। इसे 'आत्मसमर्पण' कह सकते हैं जिसके विषय में गीताकार ने कहा है—

सर्व धर्मान् परितज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहम् त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षायिष्यामि मा शुचः॥

स्पष्ट है कि रामानुज की प्रपत्ति और गीता की इस "शरणागति" में कोई भेद नहीं है। रामानुज नारायण और लक्ष्मी को उपास्य मानते थे। उनके बाद निम्बार्क आये। उन्होंने कृष्ण और राधा को उपास्य माना। उन्होंने द्विजों और शूद्रों के लिए अलग-अलग भक्ति-पद्धतियों की योजना नहीं की। उनकी भक्ति का वही रूप था जो रामानुज के

यहाँ "प्रपत्ति" का था—उपास्य के प्रति शरणागति। तद्पश्चात् माधवाचार्य अवतीर्ण हुए जिन्होंने विष्णु के दोनो अवतारों—राम-कृष्ण—को उपास्य ठहराया। इन्होने वैराग्य और नवधा भक्ति का प्रचार किया। श्रद्धामूलक तथा ज्ञानाश्रयी भक्ति की इस परम्परा में अन्तिम आचार्य रामानन्द हुए। इन्होंने शूद्रो को ज्ञानाश्रयी कर्मकांडी भक्ति का अधिकारी माना। मूलतः उनके सिद्धान्त वही हैं जो रामानुज के थे, परन्तु वे राम को उपास्य मानते थे। उन्होंने संस्कृत को छोड़ कर लोकभाषा को ही प्रचार का माध्यम बनाया और इस तरह उनके द्वारा भक्ति-आन्दोलन का रूप अधिक व्यापक हो गया। सारा भारत भक्ति के रंग में रंग गया। शीघ्र ही इसके दो रूप हो गये। एक सनातनी हिन्दू जनता में चलता रहा। दूसरा सन्तो द्वारा निम्न श्रेणी के लोगो में चला। पहला कर्मकांडी था। दूसरा कर्मकांड का विरोध करता था। परन्तु दृष्टिकोण दोनों का एक ही था।

अब तक भक्ति का रूप केवल दास्य भावना तक सीमित था और वह श्रद्धा-समन्वित और ज्ञानाश्रित थी। वात्सल्य और शृङ्गार को स्थान नहीं मिला था। इस कमी को वल्लभाचार्य और चैतन्य ने पूरा किया। वास्तव में वल्लभाचार्य और चैतन्य से पहले भी व्यक्तिगत रूप से शृङ्गार-भक्ति या मधुर भक्ति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। वल्लभाचार्य और चैतन्य दोनो माधवेन्द्रपुरी के शिष्य थे और उनके साहित्य और जीवन-वृत्त के अध्ययन के बाद हम यह कह सकते हैं कि दोनो आचार्यों को शृङ्गार-भक्ति का सन्देश उन्हीं से मिला होगा। फलतः वल्लभाचार्य और चैतन्य के सम्प्रदायों में भी बहुत समानता है। अन्तर केवल इतना है कि चैतन्य संप्रदाय की भक्ति भावुकता-प्रधान है और वल्लभकुल-सम्प्रदाय की कर्मकांड-प्रधान। परन्तु शृङ्गार-भक्ति को स्वीकार करते हुए भी आचार्य वल्लभ ने अपने भक्ति योग में वात्सल्य को अधिक प्रधानता दी है और

"नवनीत-कृष्ण" तथा "गोपालकृष्ण" की पूजा-विधि को सम्प्रदाय में महत्वपूर्ण स्थान मिला है।

वल्लभाचार्य तैलंग ब्राह्मण थे। मध्यप्रदेश के चम्पारण्य स्थान में उनका जन्म हुआ था। नवजात शिशु को लेकर उनके माता-पिता काशी पहुँचे और वहीं बस गये। वल्लभाचार्य ने छोटी-अवस्था में ही माधवेन्द्रपुरी से जो माध्व सम्प्रदाय के अनुयायी थे विद्याध्ययन किया। पिता की मृत्यु के उपरान्त वे दक्षिण गये। इस समय उत्तर-भारत में लोदी-वंश का शासन था। परन्तु दक्षिण में विजयनगर का हिन्दू-राज्य अपने ऐश्वर्य के शिखर पर था। महाराज कृष्णदेवराय की सभा में अनेक पंडित थे और शास्त्र-चर्चा बराबर चलती रहती थी। वल्लभाचार्य ने एक ऐसी सभा में जिसमें महाराज अध्यक्ष थे अद्वैत मतावलम्बी पंडितों को पराजित कर दिया। इसका अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा। सारे दक्षिण ने उनके आचार्यत्व को स्वीकार कर लिया। विजयनगर में महाराज के सम्मान की छाया में रह कर ही उन्होंने अपने उन विशिष्ट सिद्धान्तों को निश्चित किया जो शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके बाद वे अपने मत के प्रचार के लिये उत्तरखंड चले। झारखंड में पहुँच कर उन्हें भगवान कृष्ण ने स्वप्न दिया कि मैं गोवर्धन पर प्रकट हुआ हूँ, वहाँ जाकर मेरी प्रतिष्ठा करो। वल्लभाचार्य ब्रज गये। वहाँ उन्हें श्रीनाथजी की प्रसिद्ध मूर्ति गोवर्धन पर मिली। श्रीनाथजी के प्रादुर्भाव ने बज की जनता को इनकी ओर आकर्षित किया। शीघ्र ही अनेक शिष्य हो गये। वल्लभाचार्य ने गोवर्धन पर एक छोटा-सा मन्दिर बनवा दिया और पूजा का भार शिष्यों पर छोड़ कर वे फिर यात्रा को निकले। तीस वर्ष की आयु तक उन्होंने तीन बार भारत भ्रमण किया और सहस्रों मनुष्यों को अपने मत में दीक्षित किया। तीसरी यात्रा के बाद वे प्रयाग के समीप अड़ैल ग्राम में गृहस्थ के रूप

में बस गये। वहीं उनके दो पुत्र हुए। प्रौढ़ावस्था के बाद वे संन्यास आश्रम में दीक्षित हुए और कुछ दिनों बाद काशी में स्वर्गस्थ हुए।

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत में मूलतः कोई भेद नहीं है। इस दृष्टि से वे अद्वैतवादी हैं। परन्तु ब्रह्म ही जीव और जगत् हो, केवल माया में आच्छन्न, यह बात नहीं है। शंकराचार्य के अद्वैत में माया का स्थान अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है क्योंकि वे जीव और जगत् को भी ब्रह्म मानते हैं। वल्लभाचार्य ब्रह्म, जीव और प्रकृति (जगत) के अतिरिक्त किसी चौथे "माया" नाम के तत्त्व को नहीं मानते। उन्होंने मूलतः ब्रह्म, जीव और जगत का अभेद सिद्ध करते हुए भी थोड़ा भेद माना है। ब्रह्म के तीन गुण हैं सत्, चित्, आनन्द। जीवात्मा भी ब्रह्म है परन्तु उसमें आनन्द का गुण तिरोहित है, प्रकृति या जगत् भी ब्रह्म है परन्तु उसमें आनन्द और सत् गुणों का तिरोभाव है। "आनन्द" गुण प्रगट हो जाने पर जीव ब्रह्म हो जाता है। आचार्य के मत में श्रीकृष्ण परम ब्रह्म, परम पुरुषोत्तम हैं। उनका विहारस्थल परम बैकुण्ठ या गोलोक है। इसी गोलोक में उन्होंने पृथ्वी के अनेक उपादानों की कल्पना की है। वहाँ वृन्दावन है, यमुना है, लताकुञ्ज हैं, राधा है, गोप-गोपियाँ हैं और परमानन्द श्रीकृष्ण भक्तों के साथ अनन्त विहार में मग्न रहते हैं। भक्त भगवान के इस अनन्त लीला-विहार में साहचर्य-प्राप्त करने को ही उच्चतम पद मानता है।

इस पद के प्राप्त करने का साधन जहाँ एक ओर भक्ति है, वहाँ दूसरी ओर भगवान की अनुकम्पा, कृपा या वल्लभाचार्य के शब्दों में "पुष्टि" अर्थात् अनुग्रह। भगवान के अनुग्रह के बिना भक्ति भी प्राप्त नहीं होती, दृष्टिकोण यह है। इसी पुष्टि-भावना के कारण वल्लभाचार्य के मत को 'पुष्टिमार्ग' भी कहते हैं।

वल्लभाचार्य के इन दार्शनिक सिद्धान्तोंने धर्म का रूप पाकर मध्य-युग के भारत की भक्तिधारा में क्रान्ति उपस्थित कर दी। जब कृष्ण आनन्दमय हैं तो उनको आनन्द के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वल्लभाचार्य ने कहा—लीला ही मोक्ष है, लीला में भाग लो। इसका फल यह हुआ कि भगवान की दास्य-भाव की उपासना के स्थान पर लीलानन्द की प्राप्ति ही मुख्य हो गई। कृष्ण-लीला में वात्सल्य, सख्य और शृङ्गार-भावों की प्रधानता थी, अतः भक्त को इन्हीं लीलाओं में आनन्द लेना था। वल्लभाचार्य ने कहा—जिस प्रकार नन्द-यशोदा कृष्ण के वात्सल्य-भाव से प्रेम करते थे, जिस प्रकार सुबल-सुदामा सखाभाव से उनके साथ छाया की तरह लगे रहते थे, जिस प्रकार गोपियाँ शृङ्गार-भाव से आत्म-समर्पण कर देती थीं—उसी प्रकार भक्त भी समय-समय पर नन्द-यशोदा, सुबल-सुदामा अथवा गोपियाँ बन कर कृष्ण के मिलन और वियोग का अनुभव करें। यह लीला में भाग लेने की प्रक्रिया ही उसे आनन्द तत्त्व में स्थित करेगी। फलतः, पुष्टिमार्ग का भक्त भगवान के आगे "घिघियाता" नहीं (दैन्य नहीं प्रगट करता)। वह भगवान की लीला में भाग लेता हुआ उत्तरोत्तर भगवान की ओर बढ़ता जाता है; इन्द्रियों के सारे व्यापारों में उसे भगवान की लीला का आनन्द मिला है। सृष्टि उसके लिए कृष्णमय हो जाती है। जहाँ भक्ति के अन्य सम्प्रदायों का कहना था कि भगवान की महत्ता और अपनी क्षुद्रता का अनुभव करो, वहाँ वल्लभाचार्य उसे एकदम भुलाने की बात कहते हैं।

सूरदास

कृष्ण-काव्य में सूरदास का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। वे पुष्टि-मार्गीय वैष्णव थे। वह सीधे पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्य के शिष्य थे। अतः यह स्पष्ट है कि वे भक्त-कवि थे। पुष्टिमार्ग में

लीलागान को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। श्री आचार्य ने स्वयं लिखा है—"लीलावत्तु कैवल्यम्"। लीला मोक्ष है। इसी से सूरदास ने आयु भर पुष्टिमार्ग के आराध्य श्रीकृष्ण की लीला का गान किया। उनका सूरसागर यही लीला-गान है। सूरसागर के अतिरिक्त सूर के दो प्रकाशित ग्रन्थ हैं सूर-सारावली और साहित्य-लहरी। पहला ग्रन्थ सूरसागर की सूची कहा जाता है, परन्तु सूरसागर में और इस ग्रन्थ में अधिक सम्बन्ध नहीं है। यह एक स्वतंत्र रचना है, और संभव है, जाँच होने पर सूर की रचना सिद्ध न हो। साहित्य-लहरी में सूरसागर के उन कूट पदों का संग्रह है जो अनेक प्रसंगों के समय सूरसागर मे बिखरे पड़े हैं। आकार-प्रकार और काव्योत्कृष्टता की दृष्टि से सूरदास की महानता सूरसागर से ही आँकी जाएगी। अन्य ग्रन्थ विशेष सहायक नहीं होंगे।

जिस रूप में सूरसागर उपलब्ध है, उसमें कथा श्रीमद्भागवत के अनुसार स्कन्धों में बँधी हुई है। पहले नौ स्कन्धों और अन्तिम दो स्कन्धों में लगभग वही क्रम है जो भागवत में है। यह अवश्य है कि भागवत की कितनी ही कथाएँ इनमें नहीं हैं और जो हैं भी वह बहुत ही संक्षेप में, कभी-कभी बदले हुए रूप में मिलेंगी। इनमें नवम् स्कन्ध की रामकथा को छोड़ कर और कहीं भी उच्च कोटि के काव्य के दर्शन नहीं होते। नवम स्कन्ध की रामकथा पदों में, शेष पहले स्कन्ध के कुछ सुन्दर पदों को छोड़ कर अधिक कथाएँ वर्णनात्मक चौपाई या चौपई छन्द में लिखी गई हैं। वास्तव में चौपई छन्द में सूर की प्रतिभा का दशमांश भी दिखलाई नहीं पड़ता। प्रश्न यह होता है कि फिर उन्हें उन सब कथाओं को लिखने की आवश्यकता ही क्या थी। उत्तर हो सकता है कि पुष्टिमार्ग में श्रीमद्भागवत की मान्यता ही इसका कारण है। या तो स्वयम् सूर ने भागवत के ढाँचे पर रचना करने की बात सोची होगी या जब वे सूरसागर दशम स्कन्ध की कथाएँ

लिख चुके तो स्वयं अपनी प्रेरणा से अथवा साथियों की इच्छा से उन्होंने भागवत के सभी स्कंधों का सार भाषा में लिखकर अपनी कथा में जोड़ दिया। परन्तु समस्या तब और भी गम्भीर हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि सूरसागर दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में भी वर्णनात्मक छंद चल रहा है और उसके कारण उन कथाओं की पुनरुक्ति हो रही है जो अत्यंत ऊँचे काव्यगुणों के साथ पदों में कह दी है। सम्भव है सूरदास ने पदों की रचना से पहले वर्णनात्मक छंद मे सारे भागवत की कथा कही हो और इस प्रकार जो कथा बनी उसी में कभी बाद को उन्होंने या किसी दूसरे ने स्थान-स्थान विषय के अनुसार पद भी जोड़ दिये और इस तरह सूरसागर का प्रस्तुत रूप उपस्थित हुआ। यह महत्व-पूर्ण बात है कि सूर ने खंडिता, फाग, मान आदि जो नये प्रसंग गढ़े हैं, वे केवल पदों में, वर्णनात्मक छंदों में नहीं।

वस्तुतः सूरसागर का मुख्य और महत्वपूर्ण भाग दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के पद हैं। इन्हें हम कई समूहों में इकट्ठा कर सकते हैं। पहले तो वे पद हैं जिनका सम्बन्ध कृष्ण की अलौकिक एवं असुरबध लीलाओं से है। पदों में विशेष प्रतिभा के दर्शन नहीं होते, परन्तु कालियदमन और इन्द्रगर्वहरण सी कुछ लीलाओं के विषय में हम यह नहीं कह सकते। उनमें हमें अत्युच्च कवि-प्रतिभा के दर्शन होते हैं। साधारण आलोचक यही कहता है कि इन स्थलों पर सूर ने भागवत के अनुवाद के रूप में अरुचि-पूर्वक लिख भर दिया, परन्तु अध्ययन करने से यह पता लगेगा कि सूर की इन कथाओं और भागवत की कथाओं में अनेक भेद हैं। ये भेद क्यों हैं, इसका कारण सिवा इसके और कुछ नहीं हो सकता कि सूर मौलिक होना चाहते थे। कहीं-कहीं तो इस प्रकार की मौलिकता से कृष्णचरित्र में मानवीयता का अधिक समावेश हो गया है, परन्तु अधिकांश स्थलों पर मौलिकता की कोई आवश्यकता नहीं थी। शेष पदों में कृष्ण के लौकिक चरित्र

का ही विकास हुआ है। बाल्य और किशोर जीवन-संबन्धी पदों में सूरदास भागवत के लगभग बिलकुल भी ऋणी नहीं हैं। कृष्ण का बालचरित्र और नन्द-यशोदा का वात्सल्य सूर का प्रकृत क्षेत्र है और यहाँ वे अद्वितीय हैं। किशोर कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के सम्बन्ध में कुछ प्रसंग भागवत से लिए गए हैं, जैसे चीरहरण; परन्तु उन्हें सूरदास ने अपने ढङ्ग पर बदल कर अपना लिया है। कुछ अन्य लीला-प्रसङ्ग सूर ने आप ही गढ़ लिए हैं, जैसे दानलीला, मान, खंडिता, फाग, होली। राधा की सारी कथा ही सूर की उपज है। राधाकृष्ण के प्रथम परिचय से लेकर वियोगिनी राधा और राधा-कृष्ण के मिलन की कथा तक सूर ने विस्तार-पूर्वक कही है। भागवत मे राधा का नाम भी नहीं है। इसी से सूर की मौलिकता पर प्रकाश पड़ जायगा। पदों का एक मौलिक समूह ऐसा भी निकल आयेगा जो शृङ्गार-शास्त्र की पद्धति पर खड़ा किया गया है—भ्रमरगीत प्रसङ्ग। भागवत के भ्रमरगीत और सूर के भ्रमरगीत में आकाश-पाताल का अन्तर है। शृङ्गार-शास्त्र को ध्यान में रखते हुए ही सूरदास ने वंशी के उद्दीपन विभाव, राधा-कृष्ण के रूप सौन्दर्य, उद्धव, पाती आदि प्रसंगों पर विस्तारपूर्वक बहुत कुछ लिखा है। दूसरे समूह में वागवैदग्ध्य की ओर ध्यान है जैसे कूट पद, नेत्रों और मुरली के प्रति कहे पद। भागवत में इन सबका अभाव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के काव्य का महत्वपूर्ण अंश लगभग शतशः मौलिक है। वास्तव में मौलिकता के लिए इतना अधिक आग्रह हिन्दी के किसी भी कवि में नहीं मिलेगा। वल्लभाचार्य ने लीला-गान को महत्व दिया था और, जैसी जनश्रुति है, उन्हीं के कहने पर सूरदास ने भगवत–लीला गाई, परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो वह अक्षरशः लीलागान नहीं कर रहे थे। राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंग को हम भले ही लीलागान के रूप में स्वीकार कर लें, परन्तु दानलीला, मान, खंडिता और हिंडौला आदि मे लीला से

अधिक भी कुछ है। यह अधिक कुछ रूपक है। भागवतकार ने जिस उद्देश्य से 'रास' के रूपक की रचना की थी उसी उद्देश्य से सूरदास ने कई नए रूपक लिखे। दानलीला में कृष्ण गोपियों से सब अंगों का दान माँगते हैं। भ्रमरगीत नेत्रों और मुरली के पदों एवम् गोपी-विरह वर्णन में वे धर्म भावना या लीलागान से अधिक साहित्यिक पद्धति और परंपरा से प्रभावित हैं। परन्तु सूर की महानता इसी में है कि उन्होंने विद्यापति की भाँति शृङ्गार शास्त्र या रीतिशास्त्र को सब कुछ नहीं मान लिया, उससे धर्म-भावना को पुष्टि के लिए या कथा-सूत्र जोड़ने के लिए सहारा भर लिया। उदाहरण के लिए, नायिका भेद, अभिसार, परकीया जैसे विषय सूरसागर में नहीं हैं। मान और खंडिता के प्रसङ्ग भी आध्यात्मिक रूपक की सृष्टि के लिए अवतीर्ण हुए हैं। सूरदास की मौलिकता ने उन्हें रूढ़ होने से बचाया, उसी के कारण वे महान् हैं। उनके काव्य में काव्यशास्त्र का प्रयोग भक्तिकाव्य की सृष्टि के लिए हुआ है, लौकिक काव्य के लिए नहीं। यह अनुताप का विषय है कि सूरदास के लिए क्या गौण है, क्या प्रधान, यह न समझ कर आलोचकों ने उन्हें शृङ्गारिक कवि बनाने की चेष्टा की है। सूर-सागर में राधाकृष्ण के संभोग, रति-विलास, विपरीत और सुरतांत के जो चित्र हैं, वे ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और गीतिगोविन्दम् के प्रभाव को सूचित करते हैं और उनसे जीवात्मा-परमात्मा के मिलन के रूपक का निर्माण करने की चेष्टा हैं। इन्हीं आध्यात्मिक भावनाओं के कारण सूरदास की गोपियाँ अविकसित ही रह गई हैं। शृङ्गार की परंपरा की दृष्टि से उनमें राधा के प्रति ईर्ष्या और असूया के भाव होना चाहिये, सूर के काव्य में वे राधा की सुरतांत छवि पर मोहित हैं।

यह नहीं समझना चाहिये कि ये मौलिक समूह अलग-अलग रखे जा सकते हैं। सच बात यह है कि सारे प्रधान प्रसंगों में चरित्र-चित्रण अथवा कथा के विकास के सूत्र इस तरह पिरो दिये गये हैं कि केवल

कुछ भागों को (जैसे नेत्र, मुरली, मधुकर के प्रति कहे पद) छोड़ कर हम शेष सब पदों को एक साथ पढ़ कर ही आनन्द बनाए रख सकते हैं। इस तरह प्रबन्धात्मकता और गीतात्मकता का एक अत्यंत सुन्दर सम्मिश्रण सूरसागर में बन पड़ा है। यही नहीं, सूर ने बालक के रूप में ही श्रृङ्गार का आरोपण करके और गोपियों तथा राधा से प्रेम-प्रसंग चलाकर बाल्य-जीवन के पदों को भी श्रृङ्गार प्रधान भाग से जोड़ दिया है। रूपक आते हैं, जहाँ भाव की गहराई है वहाँ एक ही विषय पर अनेक पद आते हैं, कवि की भक्ति भावना का प्रकाशन भी स्थान-स्थान पर मिलता रहता है और कथा की धारा भी अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ती है, यह सूर का चमत्कार है। वास्तव में हिन्दी संसार में एक भ्रांतिपूर्ण धारणा यह फैली हुई है कि सूर ने पदों में कोई क्रम नहीं रखा, एक लीला को अनेक बार कहा, एक प्रसंग को अनेक बार गाया, परन्तु बात ऐसी नहीं। कदाचित् एक कारण यह है कि सूर को अंधा माना गया है। भला अंधा गायक कोई क्रम बाँध कर गाता है। दूसरा कारण है यह धारणा कि सारे पद श्री नाथजी के मंदिर में गाने के अवसर पर ही बने। ऐसे पद बाल्यलीला तक ही सीमित हैं। जो आलोचक यह समझते हैं कि बसन्त, हिंडोला, फाग आदि उत्सवों पर बने पद सूरसागर में होंगे, वे भ्रम में हैं। सूरसागर के पदों में एक-सूत्रता है। सूर ने सारे सागर को एक विशेष दृष्टिकोण को सामने रखकर कहा है। इसमें फुटकर रूप में लिखे हुए पद अवश्य स्थान-स्थान पर हैं, परन्तु इनका कथा से कोई सम्बन्ध नहीं और इनकी संख्या भी अधिक नहीं है। यह कहना भी भ्रम है कि सारा सूरसागर तानपूरे के तारों पर बना है। वर्णनात्मक छंदों के विषय में क्या कहा जायगा? कई बड़े-बड़े पृष्ठों तक चलती हुई कथा की इति-वृत्तात्मक धारा तानपूरे पर नहीं निकल सकती।

जो हो, सूरदास की प्रतिभा इतनी विचित्र है कि उसे कहीं एक स्थान पर पकड़ा नहीं जा सकता।

सूरसागर की राधाकृष्ण कथा के अतिरिक्त सबसे सुन्दर साहित्यिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति विनय के पदों में मिलती है। विनय के लिए सर्वप्रथम एक ऐसे आधार की आवश्यकता है जिसके प्रति विनय की जाय। सूर ने आरम्भ में ही इस विषय में अपना मत निश्चित किया है। उनकी विनय का आलम्बन निर्गुण का सगुण अवतार है। "अविगत" निर्गुण के प्रति इस प्रकार की भावना रहस्यमूलक, अस्पष्ट और भ्रामक हो सकती है, अतः सूरदास ने अपना आधार सगुण माना—

अविगत गति कछु कहत न आवै
ज्यौं गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै
परम स्वाद सबही सुनिरंतर अमित तोष उपजावै
मन-बानी कौं अगम अगोचर सो जानै जो पावै
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब कित धावै
सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन लीलापद गावै

अब प्रश्न है, यह "सगुण" रूप कौन-सा है जिसके प्रति सूर की विनय-भावना परिचालित है। वह है "वासुदेव" "जदुनाथ गोसाईं"। परन्तु सूरदास यह जानते हैं कि सगुण रूप कितने ही हैं यद्यपि सब एक ही हैं। निर्गुण के सगुण रूप में अवतार लेने के दो कारण हैं—(१) ब्रह्म की लीला (२) भक्तों को आनन्द देना या भक्त का दुःख से त्राण करना। इस प्रकार भक्ति के आलम्बन के निश्चित हो जाने पर सूरदास अपनी विनय आरम्भ करते हैं।

पहले वे भगवान के स्वभाव का वर्णन करते हैं क्योंकि भक्त को उसी स्वभाव का आश्रय लेना है। यह स्वभाव ही उन्हें विशेष कर्म

को ओर प्रेरित करता है। न भगवान की "करनी" की गति जानी जा सकती है, न उनके स्वभाव की। इस स्वभाव के अंग हैं- (१) भक्तवत्सलता (२) भक्त की ढिठाई का सहन (३) भक्त का कष्ट-हरण (४) शरणागत-वत्सलता (५) दीन ग्राहकता (६) गाढ़े दिन की मित्रता (७) अभयदान। इस स्वभाव के विश्वास को लेकर भक्त आगे बढ़ता है। वह सांसारिक ऐश्वर्य को तिलांजलि दे देता है और भगवान की सम्पत्ति में ही अपने को धनी मानता है। वह कहता है--

कहा कमी जाके राम-धनी
मनसा नाथ मनोरथ पूरन सुख निधान जाकी मौज धनी
अर्थ, धर्म अरु काम-मोक्ष फल चारि पदारथ हेत गनी
इन्द्र समान हैं जाके सेवक नर बपुरे की कहा गनी

यही नहीं, वह आगे बढ़कर अपने को महाराजों का भी महाराज मानता है। भगवान का ऐश्वर्य ही उसका ऐश्वर्य है--

हरि के जन का अति ठकुराइ
महाराज, दिनिराज, राजमुनि देखत रहे लजाई

यहां तक मन को विश्वास करने के बाद भक्त विनय की भूमि में उतरता है। वह पहले भगवान से माया और तृष्णा के परिहार की प्रार्थना करता है। वास्तव में भगवद्भक्ति के ये दोनों प्रबल शत्रु हैं। सारे संसार का झमेला इन्हीं के कारण है। और सच तो यह है कि ये दोनों एक हैं। माया की ओर मन का निरंतर आकर्षित होना ही तृष्णा है। जो भगवान के लिए माया है, कौतुक है, वही भक्त के लिए तृष्णा का कारण बनता है। माया का ही काम है भ्रम उत्पन्न करना। भ्रम की उत्पत्ति ही दुःख का कारण है-

नारद मगन भये माया मैं ज्ञान-बुद्धि-बल खोयौ

साठि पुत्र अरु द्वादस कन्या कंठ लगाए जौयौ
संकर को मन हर्यौ कामिनी सेज छाँडि भू सौयौ
चारु मोहिनी आइ आँध कियौ तब नखसिख तैं रोयौ
सौ भैया दुरजोधन राजा पल में गरद समोयौ
सूरदास कंचन अरु काँचहि एकहिं धगा पिरोयौ

इस प्रकार माया-जन्य भ्रम के कारण मन सार वस्तु (भगवान) से हटता है। कालांतर में इसी भ्रम के कारण हिंसा, मद, ममता, आशा, निद्रा, काम, तृष्णा, परनिन्दा, शरीर-सेवा, वाह्याडम्बर, विषय-विमुखता, राजस, अविहित वादविवाद का जन्म होता है। इसी लिए माया का अनिष्टकारी गाय का रूपक बाँध कर कवि भगवान की शरण में जाता है—

माधौ, नैकु हटकौ गाइ
भ्रमत निशि-वासर अपथ-पथ अगह गहि नहिं जाइ

और अपनी निर्बलता को स्वीकार कर लेता है—

नारदादि सुकादि मुनि जन थके करत उपाइ
ताहि कहु कैसे कृपानिधि सकत सूर चराइ

परन्तु जहाँ भक्त का अंतिम आश्रय भगवान का अनुग्रह ही है क्योंकि वही माया-तृष्णा से उसका त्राण करेगा, वहाँ उसे भी स्वयम् अपनी ओर से प्रयत्नशील होना होगा। इसलिए भक्त का प्रधान प्रयत्न अपनी आत्म-प्रवंचना, आत्मशुद्धि और आत्म प्रबोध ही होता है। वह सबसे प्रथम मन को भाँति-भाँति के सम्बोधन करके उसे वस्तुस्थिति से परिचित कराता है—

१—रे मन जग पर जनि ठगायौ
धनमद, कुलमद, तरुनी कैं मद, भवमद हरि विसरायौ

२—रे मन छाँड़ि विषय कौ रंचिवौ
३—रे मन गोविन्द के ह्वै रहियै

कवि मन को विश्वास दिलाता है कि वह मूल रूप से सात्विकी **है,** वस्तुतः उसकी प्रवृत्ति बदली नहीं है, उसे केवल सांसारिकता **से ऊपर** उठकर भगवान की ओर उन्मुख होना भर है। वस्तुतः, **मन को अपना रूप** पहचानना है—

रे मन आपु कौ पहिचानि

इस **मन** की स्वच्छता के लिए हरिकृपा तो वांछित है ही, **प्रथम और** अंतिम साधन वही है, परन्तु स्वयं भक्त क्या करे? **सूरदास भक्त** के लिए तीन साधनाएँ आवश्यक मानते हैं—(१) **नामस्मरण** (२) भगवद् कथा-गान (३) भगवद्-स्वरूप-चिंतन। इनके अतिरिक्त कुछ कर्म भी विहित हैं—गुरुभक्ति, दीनता, सत्सङ्ग। इन साधनाओं के साथ-साथ चलते रहना चाहिए—आत्म प्रताड़न (हरि जू मोसों **पतित** न आन), शरणागति (अब हौं हरि शरणागत आयौ), भगवान की अनुकंपा के प्रति आस्था (बहुत पतित उद्धार किये तुम हैं तिन को अनुसर तौं)। इन्हीं भावनाओं के कारण भक्त ढीठ हो जाता है। **वह** भगवान से कहता है—

जानहौं अब बाने की बात
मोसौ पतित उधारौ प्रभु जौ तौ बहिहौं निज तात

वह तो आत्मसमर्पण कर देता है (हमैं नन्दनन्दन मौल लियौ) फिर **वह** ढीठ क्यों न हो जाये। उसकी तो भावना है अनन्य। इसी दृढ़ता के बल पर वह कहता है—

जो पै तुमहीं विरद बिसारौ
तौ कहौ कहाँ जाइ करुनामय कठिन करम कौ मारौ

यहाँ तक कि अंत में वह भगवान के अनुकंपामय स्वभाव से उत्साहित होकर अड़ ही जाता है—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं
कै तुमहीं कै हमहीं माधौ, अपन भरोसै लरिहौं
हौं तौ पतित सात पीढ़िनि के पतितै ह्वै निस्तरिहौं
अब हौं उघर नच्यौ चाहत हौं तुम्हें बिरद बिन करिहौं
कत अपनी परतीति नसावत मैं पायो हरि हीरा
सूर पतित तब ही उठिहै प्रभु जब हँसि दैहो बीरा

यह है सूर की विनय-भावना के मूल में काम करने वाला मनोविज्ञान। केवल एक स्थान पर वह तुलसी की तरह भक्ति की याचना करते हैं—

अपनी प्रभु भक्ति देहु जासौं तुम नाता

परन्तु अन्य सभी स्थलों पर वह भगवान से मुक्ति की ही याचना करते हैं और अपनी पतितावस्था और भगवान की "पतित उद्धारन बानि" का सहारा लेते दिखाई पड़ते हैं यद्यपि सूरदास ने तुलसीदास की तरह विनय की शास्त्रीय पद्धति (वैष्णव विनय-पद्धति) को अपने सामने नहीं रखा है, परन्तु विनय की समस्त भूमिकाएं उनके पदों में मिल जाती हैं यद्यपि सूर के विनयपद प्रधान-रूप से जिस भावना से परिचालित हैं वह है "पतित-भावना" जिसके सत्य रूप को समझने के लिए सूर की ये पंक्तियाँ सदैव स्मरण रखनी होगी–

अद्भुत जस विस्तार करन कौं हम जन कौं बहु हेत
भक्त पावन कोउ कहत न कबहूँ, पतित पावन कहि लेत

सूरदास की यह भक्ति-भावना जिस कृष्ण रूप के प्रति प्रकट हुई है, वह 'निर्गुण' से कम अविगत नहीं है, परन्तु सगुण रूप होने के कारण उसकी सुन्दरता भक्त के मन में समा जाती है, जिससे वह

कुछ कम अवश्य हो जाता है। वास्तव में सूरदास का विषय इसी अलौकिक, अविगत, सगुण सौन्दर्य का अवलोकन, आस्वादन और ध्यान है और विनय के पद भूमिका-स्वरूप है। इस रूप के चमत्कारिक वर्णन से सारा सूरसागर भरा पड़ा है, परन्तु भूमिका-रूप में यह पद दिया जा सकता है--

यहई मन आनन्द अवधि सब
निरखि सरूप विवेक नयन भरि या सुख तें नहिं और कछू अब
चित चकोरगति करि अतिसय रति तजि स्रम सघन विषय लोभा
चिंति चरन मृदु चारुचंद्र नख, चलत चिह्न चहुँदिसि सोभा

नामस्मरण, कथा-कीर्तन और ध्यान में यह ध्यान ही सूरदास ने सर्वश्रेष्ठ माना है। प्रमाण सूरसागर है जिसमें राधाकृष्ण का ध्यान सैकड़ों रूपों में अंतः-चक्षुओं के सामने उपस्थित किया गया है। सूरदास की विनय-भावना ध्यान के लिए उपयुक्त भूमि तैयार करती है।

विनय और आत्म-समर्पण वैष्णव-भक्ति काव्य के सबसे महत्वपूर्ण अंग हैं। विनय और आत्मसमर्पण को ही पारिभाषिक ढङ्ग से 'भक्ति' कह दिया गया है। ऋग्वेद के साहित्य में ही हम इंद्र, वरुण, प्रजापति इत्यादि देवताओं के प्रति भक्ति के चिह्न पाते हैं। परन्तु उपनिषदों में भक्ति का स्थान आत्मचिंतन और उपासना ने ले लिया। उस समय से भक्ति के दो रूप हो गये। एक आत्मचिंतन मूलक ज्ञान-कर्मप्रधान, दूसरा भावुकतामय। जान पड़ता है भक्ति के जिस रूप से आज हम परिचित हैं, वह बौद्धकाल की वस्तु है। धीरे-धीरे बुद्ध का मानवीय व्यक्तित्व लोप हो गया, और उनके प्रति प्रेमभाव ने श्रद्धा की बलवती भावना को और भी विकसित किया। महायान में इस भक्ति का पूरा विकास हुआ। बौद्ध मंदिरों और विहारों में

बुद्धों, अवलोकितेश्वर और वज्रसत्व की मूर्तियाँ स्थापित हुईं और गीत और गान के साथ उनकी नित्य पूजा चली। यह महायान जब धीरे-धीरे हिन्दू धर्म के सामने पराजित हुआ, तो वह पहले अपनी अनेक संस्थाओं का प्रभाव हिन्दू मतवाद पर छोड़ चुका था। भक्ति की संस्था भी इनमें एक थी।

ईसवी शताब्दी दो में वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान हुआ। उस समय गुप्त राजाओं ने "महावैष्णव" की उपाधि धारण की। विष्णु विशेष पूजित हुए। उनके मंदिर भी स्थापित हुए। परन्तु शिव, ब्रह्मा, कार्तिकेय, सूर्य आदि अनेक देवी-देवता भी इसी समय जनता के अनेक वर्गों में भक्ति और श्रद्धा पाने लगे। धीरे-धीरे वाह्य क्रियाओं के साथ अंतस-चेतना भी विकसित हुई। भक्त प्रार्थी के रूप में भगवान (उपास्य) के सामने आया। प्रार्थना के यही रूप चले—(१) स्वरूप-चिंतन (या उपास्य के रूप का वर्णन) २—शीलगुणचिंतन (उसके सम्बन्ध में कथायें) ३—दैन्यभाव (उपास्य से दीनता का सम्बन्ध जोड़ना) ४—प्रेम-भाव। पहले दो भाव-स्रोतों में, दूसरे दो पदों (गीतों) के रूपों में प्रकाशित हुए।

गुप्तों से राजपूतों तक विष्णु और शिव की भक्ति का विशेष विकास हो चुका था और भारत के कोने-कोने में बड़े-बड़े मन्दिर और चैत्य भरे पड़े थे। मंदिरों के लिए राजाओं और जनता में महान उत्साह था। उनकी सम्पत्ति करोड़ों की होती थी। जब मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया (११ वीं शताब्दी) तो इन मंदिरों की अपार सम्पत्ति लूटी गई और विदेश ले जाई गई। तब तक पूजा के वाह्य-रूपों का मान अधिक था। बड़े समारोह से पूजा होती। आत्म-ग्लानि और आत्मचिंतन की मात्रा उत्तर में शंकराचार्य के पदों में और दक्षिण में अलवारों के पदों में मिलती है। अलवारों के गीतों में

लगभग ८०० वर्ष पहले तक की भक्ति-भावना के विकास का इतिहास मिलता है। इसके बाद भक्ति का रूप व्यापक हो गया था।

यह कहना ठीक नहीं है कि भक्ति का प्रादुर्भाव मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप हुआ। भक्ति की धारा अनेक स्रोतों में होकर लगभग ८-१० शताब्दियों से बह रही थी। भक्ति का पहला सामूहिक उत्थान त्रिदेवों की भक्ति को लेकर चला था जिसमें विष्णु और शिव की प्रधानता थी। वैष्णव भक्ति का विकास पहली दो शताब्दियों में उत्तरभारत में विशेष रूप से हुआ, परन्तु बाद को वैष्णव भक्ति दक्षिण में ही विशेष विकास को प्राप्त हुई। १०वीं शताब्दी में वैष्णव भक्ति फिर उत्तर भारत में आई। दक्षिण के अलवार भक्तों से प्रभावित आचार्य उत्तर भारत के मध्ययुग की भक्ति के आदि प्रवर्तक हुए। परन्तु इस सारे काल में वैष्णव भक्ति का उत्तर भारत में भी काफी महत्व था यद्यपि राजाश्रय शिवभक्ति और शक्ति-भक्ति को ही प्रश्रय दे रहा था। बंगाल शाक्त था। राजपूतों का पश्चिमी और मध्य-भारत में प्राधान्य था, वे शिव के उपासक थे। कुछ राजपूतों में भवानी (शिव) की सेवा चल रही थी। बंगाल में महायान की उत्तराधिकारिणी अनेक देवियों की पूजा-भक्ति चल रही थी।

मुसलमानों के आने से दो शताब्दियां पहले से भक्ति के एक नये रूप की प्रतिष्ठा हो गई थी। इसका आधार था विष्णु के अवतार राम और कृष्ण। दोनों की भक्ति में अंतर था—एक में सेवक-सेव्य भाव की प्रबलता थी, दूसरी में माधुर्यभाव की। इन दो भक्ति-शाखाओं का प्रवर्तन दो संस्कृत ग्रन्थों में हुआ। रामभक्ति अध्यात्म रामायण से, कृष्ण भक्ति भागवत से। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि ये ग्रन्थ पूर्ण विकसित रूप में प्राप्त हुए। ६ठी शताब्दी से १०वीं शताब्दी तक अनेक पुराण और काव्य राम-कृष्ण कथा को विकसित कर चुके थे और इन्हें विष्णु के श्रेष्ठतम अवतारों के रूप में उपास्य

माना जा चुका था। परन्तु १० वीं शताब्दी तक के राम-कृष्ण संबन्धी संस्कृत साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि तब तक जनता में इन अवतारों के प्रति वह प्रगाढ़ भक्ति भावना नहीं उत्पन्न हुई थी जो बाद में प्रस्फुटित हुई। संस्कृत में कृष्ण-काव्य पर सामग्री केवल पौराणिक कथाओं के रूप में मिलती है, महाभारत और भास के कुछ नाटकों में अवश्य कृष्ण-लीला को विषय बनाया गया है। राम सम्बन्धी साहित्य प्रचुर है---रूप वैभिन्न्य और मात्रा दोनों में। महाकाव्य, गद्य काव्य, चंपू, नाटक, इन सभी साहित्यिक रूपों में राम सम्बन्धी कथावस्तु अनेक प्रकार से सजा कर रखी गई है और चरित्र एवं कथा-सम्बन्धी नई-नई उद्भावनाएं स्थान स्थान पर हैं, परन्तु उनमें भक्ति का पुट नहीं है। हाँ, अगले युग में भक्ति-भावना ने इन नवीन उद्भावनाओं को नई वीथिका देकर और उज्ज्वल अवश्य कर दिया है।

शांडिल्यशास्त्र, नारदभक्ति सूत्र, भागवत, आध्यात्म, रामतापनी उपनिषद आदि ग्रन्थों में भक्ति का विशद विवेचन एवं विश्लेषण है। इन्हीं पर विभिन्न संप्रदायों और उनके साहित्य की नींव रखी गई है। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति की भावना किसी प्रकार विदेशी नहीं है। उसका मूल इसी देश की धर्म भावना में है। ईसा-पूर्व की पाँचवीं-छठीं शताब्दी से वासुदेव धर्म का कोई-न-कोई रूप मिलता है। वही वासुदेव धर्म भागवत, नारायणी और वैष्णवमतों को प्राप्त हुआ।

जैसा हम पहले कह चुके हैं वैष्णव भक्ति का पहला भावोल्लास अलवारों की कविता में मिलता है। इससे प्रभावित आचार्य उत्तरा-पथ में भक्ति के प्रवर्तक हुए। ये केवल भक्त ही न थे---शास्त्रों के ज्ञाता, संस्कृत के पंडित और प्रसिद्ध दार्शनिक थे। इनमें शङ्कराचार्य प्रथम हैं। इनका समय ईसा की ८वीं शताब्दी से १०वीं शताब्दी तक

माना जाता है। यद्यपि शंकर ब्रह्मवादी थे, उन्होंने ज्ञान को ही परमात्म सत्ता से परिचय का साधन माना है, परन्तु उनकी कितनी ही रचनाओं में ही शिव आदि के प्रति भक्तिभाव के प्रचंड दर्शन होते हैं। परन्तु पहली बार वैष्णव भक्ति को प्रबल धारा बहाने वाले यामुन मुनि के शिष्य श्री रामानुजाचार्य (१०१६ ई०–११३६ ई०) थे। इन्होंने विष्णु और लक्ष्मी को अपना आराध्य माना था। इनकी ही शिष्य परंपरा में १४वीं शताब्दी में रामानन्द हुए जिन्होंने रामसीता की पूजाभक्ति को प्रधानता दी। रामानन्द संप्रदाय इस वैधी भक्ति को लेकर चला। इसके प्रधान कवि कबीर (१५वीं शताब्दी) और तुलसी (१५४७–१६२७) हुए।

इस राम-भक्ति के साथ-साथ उससे भी अधिक प्रबलधारा के रूप में कृष्णभक्ति चली। जिन प्रसिद्ध आचार्यों ने इसके प्रवर्तन और प्रवर्द्धन में सहायता की, वे हैं मध्वाचार्य (लगभग १२०० ई०) निम्बार्क स्वामी (१२वीं शताब्दी), विष्णु स्वामी (१३वीं शताब्दी) और वल्लभाचार्य (जन्म १४७६ ई०)। इन आचार्यों ने राधा-कृष्ण की अनेक रूपों से व्याख्या की, श्री शंकराचार्य के मायावाद के सामने सगुण अवतारवाद को रखा। चैतन्य (१४८५—१५३३ ई०) और उनके अनुयायियों ने कृष्णभक्ति को भावप्रवण रूप देने में विशेष योग दिया।

ऊपर हम कह चुके हैं कि सगुण मतवाद को मुख्यतः दो पुस्तकों ने प्रभावित किया है। इनमें से पहली भागवत है और दूसरी के स्थान पर हम बाल्मीकि रामायण को रख सकते हैं। अन्य अनेक स्मार्त ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है, विशेष कर तुलसी के साहित्य में। परन्तु भागवत का प्रभाव किसी भी अन्य पुस्तक से अधिक है, यह बात थोड़े परिश्रम से जानी जा सकती है। भागवत के कृष्ण के समकक्ष ही तुलसी ने राम की प्रतिष्ठा की है एवं अनेक सिद्धान्त भाग-

वत से लिये हैं। यही नहीं, उनका काव्य भी उससे प्रभावित है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ भागवत में माधुर्य भाव की प्रधानता है, वहाँ मानस में दास्य भाव की। इसलिए भागवत की विचारधारा का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। भागवत के कृष्ण परमेश्वर हैं—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारण कारणम्॥

वे अनादि हैं, सच्चिदानन्द हैं, समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति, अवस्थिति और प्रलय के कारण हैं। यह मनुष्य की ज्ञानमण्डित सर्वोच्च कल्पना है जिसने भगवान को सब के आदि में रख दिया है। इस स्थिति में वे लोकोत्तर हैं। यह भगवान कुछ कारणों से अवतार धारण करते हैं। कारण है—

स्वलीला कीर्ति विस्तारात् भक्तेस्वनुर्जिघृक्षया।
अस्य जन्मादि लीलाम् प्राकट्य हेतुरुत्तमः॥

भगवान अपनी लीलाकीर्ति की प्रतिष्ठा के लिए अथवा भक्त के आनन्द के लिए प्रगट होकर लीलाएँ करते हैं। इनके अतिरिक्त एक कारण और भी है जिसे गीताकार ने इस प्रकार कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का साम्राज्य स्थापित हो जाता है, तब-तब लोक मंगलकारी भगवान धर्म के पुनर्स्थापन के लिए एवं दुष्टों के विनाश के लिए अवतार लेते हैं।

भगवान के अवतार कितने ही हैं, परन्तु उन्हें सुविधा के लिए तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। १—स्वयम् रूप—रामकृष्ण

(जो तत्त्वतः भगवद्रूप है ।) २—तदेकात्म रूप जो तत्त्वतः भगवद्रूप होकर भी रूप और आकार में भिन्न है—मत्स्य, वराह आदि । ३—आवेश रूप जिसमें भगवान महत्तम जीवों में आविष्ट होकर रहते हैं जैसे नारद, शेष, सनक, सनन्दन । इन अनेक रूपों में एकता है—

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारः अर्थो बहुगुणाश्रयः ।
एको नानेयते तद्वत भगवान् शास्त्र वर्त्मभिः ॥

जैसे इंद्रियों के पृथक द्वारों से आकर बहुगुणाश्रित वस्तु एक ही प्रकार की समझ पड़ती है, उसी प्रकार भगवान विषयक ज्ञान है । यही नहीं, सगुण और निर्गुण ब्रह्म में भी विरोध नहीं है—

तथापि भूयन् महिमा गुणस्यते
विबोद्धुमर्हत्य कलांतरात्मभिः
अविक्रियात्स्वानुभवाद् रूपतो
ह्यनन्य बोधात्मतया चान्यथा ।
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै
र्भूयासवः खे महिकाद्युमासः ॥

हे परिच्छेद-रहित, इस प्रकार आपके सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का ज्ञान होना कठिन है और भक्त से ही आप जाने जाते हैं, तो भी निर्मल अंतःकरण वाले जितेन्द्रिय महात्मा पुरुष आत्माकार अन्तःकरण से, साक्षात्कारता से; निर्विकारता से, अरूपता से, अनन्यबोध से कुछ-कुछ आपकी महिमा को जान सकते हैं । परन्तु और किसी प्रकार से आप जानने में नहीं आते । हे गुणात्मन्, आप गुणों के आधार हो । इस विश्व का मङ्गल करने के लिये आपने इस संसार में अवतार

लिया है। सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन गुणों के तुम साक्षी हो ! आपमें गुण इतने हैं जिनके गिनने के लिए कौन पुरुष सामर्थ्यवान हो सकता है ? कोई चतुर पुरुष बहुत दिनों में बहुत से जन्म धारण करके पृथ्वीरेणु को गिनती कर ले और स्वर्ग के नक्षत्रादि के परमाणुओं को भी गिन ले, परन्तु आपके गुणों का पार कोई किसी प्रकार नहीं पा सकता।

वास्तव में निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। भागवत कहती है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यो ऽज्ञानमद्वयम्
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

एक अद्वय ज्ञानतत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान तीन प्रकार से कहा गया है। यह विभिन्नता उपासनाभेद के कारण है। ज्ञानी जिसे ब्रह्मरूप मानता है, वह योगी के लिए परमात्म-रूप और भक्त के लिए भगवद्रूप है। यही कारण है कि सगुण साहित्य में पद-पद पर सगुण रूप के पीछे निर्गुण सत्ता की प्रतिष्ठा चलती है —

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चांतर्जगतो यो जगच्च यः ॥
तं मत्वा ऽ ऽत्यजमव्यक्त मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्
गोपिकोलूखलो दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥

जिसका भीतर-बाहर नहीं है, पूर्व-पश्चात् नहीं है, इतने पर भी स्वयं ही जगत् के भीतर भी है और बाहर भी, तथा आदि में भी है, और अंत में भी है, यहाँ तक जो स्वयं जगत-रूप में भी विराजमान है, जो अतीन्द्रिय और अव्यक्त है--भगवान के मनुष्याकार धारण करने से उसे अपना पुत्र मानकर यशोदा ने प्राकृत बालक की तरह रस्सी से ऊखल में बाँध रखा है।

भगवान को प्राप्त करने का साधन भक्ति है। यद्यपि भगवान की भक्ति भगवत्कृपा का ही फल है, परन्तु साधक भक्त को भी किसी न किसी रूप में थोड़ा-बहुत भगवान की ओर अग्रसर होना पड़ता है। इसके लिए प्रत्येक संप्रदाय में अनेक विधि-निषेध निर्धारित किए गए हैं और पूजा-आराधना की प्रतिष्ठा हुई है।

भक्ति दो प्रकार की है—रागानुमा और वैधी। रागानुमा भक्ति में तन्मयता को अधिक स्थान मिला है। वह 'एकांतिक' भक्ति है जो इष्टदेव के सिवा और किसी कर्तव्य-अकर्तव्य को नहीं देखती। वह 'विषयासक्ति' का ही रूप है जो भगवान की ओर उन्मुख होता है। सांसारिक नाशवान वस्तुओं के प्रति जो विषयासक्ति होती है, वह जड़ोन्मुख होती है। ईश्वरोन्मुख या भगवद्विषयक होने पर वही विषयासक्ति रागानुमा भक्ति हो जाती है। वैधी भक्ति में भक्त की कर्तव्य बुद्धि सदैव जागृत रहती है और वह अंत तक विधि-निषेधों का पालन करता जाता है। परन्तु यह नहीं कि रागानुगा भक्ति में कुछ विशेष विधि-निषेध हो ही नहीं। जब तक भक्त तन्मयता की अवस्था को नहीं पहुँच जाय, तब तक यह बंधन है ही। निषेध ये हैं—

१. हरिविमुख लोगों का संग
२. शिष्य, संगी, भृत्य आदि के द्वारा किया गया अनुबंध
३. महारंभ का उद्यम।
४. नाना ग्रन्थ, कलाओं और वाद्यों का अभ्यास
५. कृपणता
६. शोकादि से वशीभूत होना
७. अन्य देवता के प्रति अवज्ञा
८. जीवों को उद्विग्न करना

९. सेवापराध अर्थात् यत्न का अभाव, अवज्ञा, अपवित्रता, निष्ठा का अभाव और गर्व।

१०. नामापराध अर्थात् साधु निन्दा, शिव और विष्णु का पृथकत्व चिन्तन, गुरु-अवज्ञा, वेदादि-निन्दा, नाममहात्म्य के प्रति अनास्था, हरिनाम की नाना-विधि अर्थ-कल्पना, नाम-जप और अन्य शुभ कर्मों की तुलना करना, अश्रद्धालु को उपदेश, नाम के प्रति अप्रीति।

वैध भक्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं--श्रद्धावान, नैष्ठिक और रुचियुक्त। ये लोग दो मूल तत्त्व और पाँच अंगों को स्वीकार करते हैं। दो मूल तत्त्व हैं (१) भगवान ही एकमात्र जीवों को स्मर्तव्य है, और जो उसके सुमिरन में सहायक हैं वे ही कर्म भक्त के कर्तव्य हैं, चाहे वह कुछ भी क्यों न हो। (२) भगवान को भूल जाना अमंगल है और इस अमंगल के सहायक सभी कार्य त्याज्य हैं। पांच अंग इस प्रकार हैं--(१) भगवान के विग्रह (मूर्तियों) की सेवा (२) कथा-सत्संग (३) साधु-संग (४) नाम-कीर्तन और (५) ब्रजवास।

नारद भक्ति-सूत्र में भक्ति के ग्यारह प्रकार कहे गये हैं--ॐ महात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति, रूपाएकधाप्येकादशधा भवति। परन्तु इनमें पाँच मुख्य हैं--शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। ये पांचों भगवद्प्रेम की पूर्ण अवस्थायें हैं। यह प्रेम इस क्रम से उदय होता है--(१) श्रद्धा (२) साधुसंग (३) भजनक्रिया (४) अनर्थनिवृत्ति (५) निष्ठा (६) रुचि (७) आसक्ति (८) भाव (९) प्रेम।

अलंकारिकों के रस भक्तों के रस से भिन्न हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं आलम्बन भेद के कारण अलंकारिकों के रस जड़ोन्मुख

है और भक्तों के रस ईश्वरोन्मुख। भक्तकाव्य में अलंकारिकों के केवल दो रसों का प्रयोग हुआ है—शांतरस और शृङ्गार (मधुर) रस। यही प्रधान रस है। अन्य रस (अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक) गौण कहे जाते हैं। उनसे भगवद्प्रेम के उद्घाटन में सहायता ली जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य नवीन रसों का प्रयोग भी भक्ति काव्य में हुआ है जिनके स्थायी भाव और रति-भाव नीचे की तालिका में दिये जाते हैं—

(स्थायी भाव)	(रतिभाव)
दास्य	प्रीति
सख्य	प्रेम
वात्सल्य	अनुकम्पा

परन्तु यदि भक्तिकाव्य का भली भाँति अध्ययन करें तो यह स्पष्ट है कि उसे भक्तों ने भगवान की लौकिक लीलाओं को अपने काव्य का आधार बनाकर लौकिक रसों से भी पुष्ट किया है। उदाहरण के लिये, सूरदास के बालकृष्ण संबन्धी प्रसंगों में अनुकम्पा रति के साथ-साथ वात्सल्य रति भी है। जहां कवि ने एक ओर यशोदा के आनन्द को चित्रित किया है वहां उसी स्थान पर दूसरी ओर अपने लिये अनुकम्पा की याचना करता है।

कृष्ण-भक्त-कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का नाम आता है। वे केवल भक्त ही नहीं थे, वे पंडित भी थे। इनका संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन भी ऊंचा था और उन्होंने कुछ संस्कृत ग्रन्थों का अच्छा अनुवाद किया है। इनका शब्दशक्ति का अध्ययन भी गंभीर था। ये काव्य-शास्त्र के ज्ञाता भी थे और इनके रीतिग्रन्थ इसका प्रमाण हैं। कृष्ण कवियों में इतनी बहुमुखी प्रतिभा किसी में नहीं, जितनी

नन्ददास में है। नन्ददास ने अपनी रचनाओं में कृष्ण की सभी गाप्य लीलाओं को अपना विषय बनाया है, और उनके अत्यन्त निकट उपस्थित होकर रचना की है। भावना-क्षेत्र में यह बात संभव है, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं है। उनका प्रसिद्ध पद है—

देखौ देखौ री नागर नट निर्तत कालिन्दी तट,
गोपिन के मध्य राजै मुकुट लटक
काछिनी किकनी कटि, पीताम्बर की चटक,
कुण्डल किरन रवि रथ की अटक
ततथेई ताताथेई सबद करन उघट
उरप तिरप गति परै पग की पटक
रास में राधे राधे मुरली में एक रट
नन्ददास गावै तहँ निपट निकट

यह पद जब देशाधिपति अकबर बादशाह के सामने लाया गया, तो उन्होंने पूछा—यह निपट निकट कैसा? स्वयं नन्ददास ने इसे गोप्य रखा, परन्तु बीरबल ने उनकी आकस्मिक मृत्यु के बाद उसे बता दिया कि यह बात कैसे बताई जाती। विट्ठलनाथजी ने भी नन्ददास की प्रशंसा की। वास्तव में 'यह तो भाव की बात है' इसे बताने के लिए नन्ददास के पास कोई शब्द नहीं थे।

परन्तु नन्ददास का कोई भी पाठक इसे भूल नहीं सकता कि उन्होंने "रसिक, रसमय, रसकरन" नन्दकुमार को अपना विषय बनाया था। यही रसिकतापूर्ण भक्ति नन्ददास का विषय था। इसे ही हम शृङ्गार-भक्ति या मधुर-भक्ति कह सकते हैं। साधारण भक्ति और शृङ्गार-भक्ति में महान् अन्तर है। नन्ददास के काव्य को समझने

के लिए इस अंतर को भली-भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिये। भक्ति को हम नवरसेतर एक रस कह सकते हैं। नवरसों से उसका सीधा सम्बन्ध शांतरस से है। शांतरस के सहायक अद्भुत और वीभत्स हैं। इन तीनों का सतोगुण से सम्बन्ध है। इस प्रकार साधारण भक्ति-काव्य में इन तीनों का समावेश होगा। इनमें वीभत्स रस आत्मरक्षा भाव से पलायन की प्रवृत्ति है। और अद्भुत रस में औत्सुक्य और निर्माण की प्रवृत्ति है। शांतरस स्वयम् निवृत्तिमूलक है, प्रवृत्तियों को उसमें स्थान नहीं मिला है। परन्तु भक्तिरस की वह सीढ़ी है। वास्तव में वीभत्स और औत्सुक्य से गुजर कर शांतरस में होता हुआ भक्त भक्तिरस को प्राप्त होता है।

शृङ्गारात्मक भक्ति का पहला उद्रेक कबीर में मिलता है। वे श्रद्धात्मक आदि सत्ता से प्रेमिका का नाता जोड़ते हैं और उसके विरह-मिलन के गीत गाते हैं। वास्तव में कबीर के भक्तिकाव्य में शृङ्गार के अतिरिक्त भी अनेक आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ मिलेंगी, तुलसी में भी लगभग यही प्रवृत्तियाँ कम-अधिक मिलेंगी, परन्तु दैन्य भाव की अधिकता के कारण अस्तित्व-स्थापना का अभाव है। राम के प्रति जो उनका तीव्र आकर्षण है, वह ठीक उस तरह रति-भाव के अंदर नहीं आता जैसे कबीर का राम के प्रति आकर्षण, यद्यपि रामचरितमानस की समाप्ति पर वे कहते हैं—

कामिहि नारि पियारि जिमि × ×
× × × प्रिय लागो मोहि राम
(उत्तरकांड)

दैन्य भाव की अधिकता के कारण उनकी भक्ति श्रद्धामूलक है। वह श्रद्धात्मक है, दैन्यात्मक है, रागात्मक नहीं।

वल्लभाचार्य के मत में दैन्य भाव (अधीनता प्रवृत्ति) का, जहाँ

तक इष्टदेव का सम्बन्ध था, कोई स्थान नहीं था। उनकी भक्ति में मुख्य भाव या तो वात्सल्य था जिसके कारण स्नेहादि कोमल गुणों को उत्पत्ति होती, या उत्सुकता का भाव, जिसने उन्हे कृष्ण की रहस्य लीलाएं गाने को बाधित किया। उनकी सुन्दरतम कविता में न पलायन-वृत्ति है, न अंतमु र्खी द्वन्द की प्रवृत्ति, न आत्म-घृणा भाव, न अधीनता, न अस्तित्व-स्थापन। उनकी भक्ति रागात्मक है। तीव्र राग केवल शृङ्गार की भाषा से ही प्रगट होगा। "मनुष्यों के सम्बन्धों में सबसे अधिक निकट सम्बन्ध दाम्पत्य प्रेम का है। ईश्वर और मनुष्य का सम्बन्ध इससे भी ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा होना चाहिये। यही शृङ्गारी उपासकों की उपासना का मूल आधार है। जो सम्बन्ध हमारे ज्ञान में सबसे उत्तम हो, ईश्वर का सम्बन्ध उससे भी अधिक उत्तम होना चाहिये। यूरोप में भी ईसाई सम्प्रदाय को मसीह की स्त्री माना गया है और दाम्पत्य प्रेम को प्रेम का आदर्श कहा गया है। सुलेमान का गीत, जिसको श्रेष्ठ गीत कहा जाता है, शृङ्गार की भाषा से पूर्ण है।" (नवरस, पृ० १३६-३७)

साधारण तौर पर मधुर भक्ति के अर्थ हैं—भगवान में प्रियतम या प्रियतमा-भाव। कबीर और मीरा इसके श्रेष्ठतम उदाहरण हो सकते हैं। परन्तु कृष्ण भक्तों की भक्ति में मधुर भक्ति इस रूप से नहीं आई है। गोपियों की भक्ति भक्त का आदर्श है। वह स्वयं गोपी बनकर प्रियतम के रूप में कृष्ण को नहीं रिझाता। उसकी भक्ति मन का ही संकल्प है। भक्त अपने मन में गोपियों की-सी मिलनाकांक्षा और वियोग का अनुभव करता है। यह भक्ति वह कैसे प्रगट करे? क्या वह उस तरह का आत्माभिव्यक्ति-प्रधान काव्य लिखे, जैसा कबीर के साहित्य में है। वह ऐसा नहीं करता। वह अपना आत्मचिन्तन और आत्म-समर्पण गोपी-कृष्ण के प्रेम-विरह में ही

गा० करता है। गोपियों का मिलन सुख नन्ददास का ही संकल्पात्मक

मिलनसुख है, उनका विप्रलम्भ इनका संकल्पात्मक वियोग है। इस प्रकार कवि की सत्ता उसके काव्य में ही प्रतिष्ठित है। नन्ददास के काव्य में मधुरभक्ति का यही रूप है। राधा-कृष्ण और गोपियों का जो संयोग-वियोग शृङ्गार है, वह नन्ददास को लेकर भक्ति ही है। उनकी तटस्थ भाव से इस लीला में भाग लेने और उसको आत्मा में अनुभव करने की भावना ही इसे भक्ति बना देती है। कबीर कहते हैं—

बालम आयो गेह रे

गोपियों का भाव इसी प्रकार यों है —

आज मेरे धाम आये री नागर नन्दकिसोर
धन दिवस धन रात री सजनी धन भाग सखी मोर
मंगल गावो चौक पुरावो बंदनवार बँधावो पौर
नंददास प्रभु संग रस बस कर जागत करहूँ भोर

दोनों में प्रकार का कोई अन्तर नहीं है। हाँ, गोपी-कृष्ण या राधा-कृष्ण का आश्रय ले लेने से संयोग-वियोग-प्रसंग और भी विस्तृत, विशद और नैकट्य-पूर्ण रूप में प्रगट हो सका है। हो सकता है, इन संयोग-वियोग के प्रसंगों में नन्ददास ने जयदेव, ब्रह्मवैवर्त पुराण, विद्यापति और सूर की परम्परा को ही निभाया है। परन्तु हम इतनी दूर जाने को तैयार नहीं। नन्ददास के संयोग चित्र आध्यात्मिक नैकट्य के ही प्रतीक हैं और उनके वियोग वर्णन में आध्यात्मिक विरह ही प्रकाशित हुआ है।

जो हो, यह निश्चित है कि कृष्णकाव्य कृष्णभक्त कवियों की साधना को केवल एकांश में प्रकाशित कर सका है। भक्ति तो साधना की चीज़ है! कविता में सधे हुए भक्ति-भाव को प्रगट करना इस

साधना का एक अंग हो सकता है, साधना नहीं। सूरदास की कितनी भक्ति उनके काव्य में उमड़ी है, कितनी बाहर रहकर उनके जीवन के साथ चली गई इसकी विवेचना कौन त्रिकालदर्शी समालोचक करेगा! उनके काव्य में उनकी भक्ति का जो अंश रह गया है उसी को लेकर हम धन्य हैं। जिन सूरदास के लिए वल्लभाचार्य ने कहा था—"यह तो सागर है" उनका सारा व्यक्तित्व भी सूरसागर में नहीं समा सका होगा। यही बात नन्ददास के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जो ग्रन्थ हमें प्राप्त हैं, उनमें उनका कवि और विवेचक का रूप ही प्रधानता पा सका है। उसके बल पर उनकी भक्ति का मूल्यांकन हम नहीं कर सकते। हाँ, उसके द्वारा हमें उनके भक्ति-पूर्ण हृदय की झाँकी अवश्य मिलती है। हमें इतने से ही सन्तोष करना पड़ेगा। यह कहना भूल होगी कि काव्य में सतर्क रहने या गोपीप्रेम चित्रण में रसशास्त्र का आधार बनाने के कारण कवि भक्त की संज्ञा का कोई अधिकारी नहीं रह गया। हमें यह समझ लेना है कि सारा भक्ति साहित्य देवता के आगे की प्रसादी है जो आज देवालयों के बाहर आकर कौड़ियों के मोल बिक रही है। इस प्रसादी में सारा लोक ज्ञान, सारा शास्त्रज्ञान, सारा हृदय-बोध देवता के समर्पण किया गया है। जो चीज़ संसार में सबसे सुन्दर है, उसे ही तो प्रिय को अर्पण किया जाता है। जब कवि राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण के गीत देवता को अर्पण कर रहा है तो वह उसके लिए अच्छी-से-अच्छी सामग्री का उपयोग क्यों न करे। इसीलिए कृष्ण-काव्य में रसशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का आग्रह है।

परन्तु सूरदास और नन्ददास पर ही हिन्दी कृष्ण-काव्य समाप्त नहीं हो जाता। अष्टछाप के ही छः अन्य कवि रह गये। ये कवि हैं—कृष्णदास पयाहारी, परमानन्ददास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीत-स्वामी और गोविन्द स्वामी। सूरदास और नन्ददास के बाद सबसे

वृहद सामग्री परमानन्ददास की है जो 'परमानन्द सागर' के नाम से संग्रहीत है। भक्तिभाव, तन्मयता और काव्यकला की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण है। इन कवियों के अतिरिक्त भी अनेक अन्य कवि हैं जैसे गदाधर भट्ट, स्वामी हरिदास, मीरा, हितहरिवंश, सूरदास मदन-मोहन, श्रीभट्ट, हरीराम व्यास, रसखान, ध्रुवदास, महाराज नागरीदास, अलबेली अलि, चाचा हितवृन्दावनदास, भगवत रसिक।

इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं मीरा और हितहरिवंश। मीरा के पद गुजराती, डिंगल और ब्रज से मिलती-जुलती पश्चिमी हिन्दी में पाये जाते हैं। उनके अनेक पदों में सन्त विचारधारा के भी दर्शन होते हैं। सन्तों की भाँति इन्होंने होली, सावन, सोरठ इत्यादि भी लिखे हैं और वैराग्य-भावनापरक चेतावनी और उपदेश भी कम नहीं हैं। परन्तु मीरा की प्रसिद्धि इनके कारण नहीं है। उनकी प्रसिद्धि के कारण उनके कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी पद हैं। इन पदों में मीरा स्वयम् एक गोपी है। उनमें न संचारी भावों का वर्णन मिलता है, न उद्दीपन और आलम्बन विभावों का। प्रेम-सम्बन्धी लगभग सभी पदों में अनुभावों का ही चित्रण मिलता है। जहाँ कृष्ण का चित्र उपस्थित किया गया है, वहाँ भी अंग-प्रत्यंग का वर्णन नहीं किया गया है। जहाँ अन्य कृष्ण-भक्ति कवि कृष्ण-कथा का आश्रय लेते हैं, वहाँ मीरा उसे बिल्कुल भुला देती है। इसी कारण मीरा के पदों में कृष्ण का निश्चित व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका है। परंतु मीरा के पदों में काव्यशास्त्र का प्रभाव अधिक नहीं है। इसी कारण वे अधिक स्वाभाविक हैं। उनकी तन्मयता अभूतपूर्व है। यही कारण है कि उनमें भावनाओं का बड़ा स्पष्ट चित्रण हो सका है। मीरा की भक्ति गोपियों की-सी है, परन्तु उनमें दासी-भावना की ही प्रधानता है। उनके शृङ्गार के पीछे भी अपूर्व शान्ति है। सम्भव है, उन पर चैतन्य-मतावलम्बियों का भी प्रभाव पड़ा हो, परन्तु उनकी भक्ति-भावना में

इतनी सादगी, इतनी तन्मयता और इतनी निष्कपटता है कि उनके पद साहित्य में शीर्ष स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

हितहरिवंश सूरदास के समकालीन थे और कदाचित् उन्होंने 'चौरासी पदों' की रचना 'सूरसागर' के पदों की रचना से पूर्व उपस्थित की थी। ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से सूर की राधा-कृष्ण विषयक विचारधारा और उनके पदों की भाषा, शैली और मूर्तिमत्ता का गहरा प्रभाव है। हितहरिवंश के कुछ पद 'सूरदास' की छाप से भी पाये जाते हैं। इससे इस प्रभाव का प्रमाण भी हमें मिल जाता है। 'निकुंज केलि' की भावना हितहरिवंशीय भावना है और उन्हीं के द्वारा अन्य कृष्ण-भक्ति संप्रदायों को प्राप्त हुई। मूल रूप से पुष्टि-मार्गीय नवनीतप्रिय कृष्ण (बालकृष्ण) के उपासक थे और पुष्टिमार्ग के नित्य और नैमित्तिक उपासना कर्मों पर बाल-पूजा की स्पष्ट छाप मिलेगी। कालांतर में राधा की प्रधानता हो गई और हितहरिवंश और उनके काव्य के प्रभाव के कारण पुष्टिमार्ग में शृङ्गार भावना (मधुररस की भक्ति) का समावेश हो गया।

संक्षेप में, हिन्दी कृष्ण-भक्तिधारा के सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं। परंतु एक बात पर हमें ध्यान रखना होगा।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, कृष्ण-भक्ति में रीतिकाव्य (प्रेम और विलास) का समावेश विद्यापति, वरन् उससे भी पहले जयदेव के काव्य द्वारा हो गया था। राधा-कृष्ण की कथा का विकास करते समय और उन्हें नायक-नायिका रूप में चित्रित करते समय कवियों का ध्यान संस्कृत साहित्य शास्त्र की ओर गया। उन्होंने संस्कृत काव्यों के प्रेम और विलास-सम्बन्धी अंशों से अपने काव्य को पुष्ट किया। परन्तु १५०० ई० से १६०० ई० तक भक्तिधारा इतनी बलवती थी और कवियों में भक्ति-सम्बन्धी भावुकता की इतनी प्रबलता थी कि नायक-नायिका के ऊपर राधाकृष्ण अलौकिक सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित

हुए और बराबर प्रतिष्ठित रहे। धीरे-धीरे भक्तिभावना में शिथिलता आने लगी और राधा-कृष्ण की कथा रूपकात्मक जीव-ब्रह्म की कथा न रहकर साधारण नायक-नायिका की प्रेम, विलास, चुहल, मिलन और वियोग की कथा रह गई। इस तरह कृष्ण-भक्ति काव्य ही कालांतर में 'रीतिकाव्य' बन गया।

(ख) रामभक्ति काव्य—रामभक्ति-काव्य वैष्णव-काव्य का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है। इसके प्रधान कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं। राम-भक्ति-काव्य कई बातों में वैष्णव-काव्य की दूसरी प्रधान शाखा कृष्ण-काव्य से भिन्न है। कृष्ण-काव्य में राधा-कृष्ण को लेकर ऐसे एकांतिक प्रेम का चित्रण किया गया है जो नैतिक आदर्शों एवं समाज और संयम की नितांत अवहेलना करता है। कृष्णकवि भक्त समाज को पीछे छोड़कर भाव-भूमि की ओर बढ़े हैं। राम-भक्ति काव्य में यह बात नहीं है। उसमें नैतिक आदर्शों को उच्चतम स्थान दिया गया है, समाज की कल्याण-भावना का कवि सदैव अपने सामने रखता है। उसमें मर्यादा भाव की प्रधानता है। एक प्रकार से उनकी दृष्टि हिन्दू संस्कृति के अभ्युत्थान की ओर है। यहीं तक नहीं, कवि का दृष्टिकोण बहुत कुछ अतिनैतिक हो गया है जो आज के युग को अखर भी रहा है। परंतु इसी सामाजिक कल्याण और संयम की भावना ने राम-काव्य में हिंदू गृहस्थ जीवन और दाम्पत्य प्रेम के अन्यतम चित्र उपस्थित किये हैं। सारे हिन्दी साहित्य में प्रेम का ऐसा सुन्दर संयमित और दाम्पत्य-भावमूलक चित्रण और कहीं नहीं है जैसा तुलसी के रामचरितमानस में है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार इस युग का सारा काव्य पौराणिक कथाओं का आश्रय लेता है, उसी प्रकार राम-काव्य भी। वह अत्यंत कड़ी शृङ्खलाओं द्वारा संस्कृत महाकाव्यों और पुराणों से जुड़ा हुआ है। कृष्ण-काव्य संस्कृत के आधार पर इतना आश्रित नहीं है

जितना राम-काव्य। तुलसी के काव्य को संस्कृत के अनेक राम-कथा काव्यों ने पुष्ट किया है। उसमें पौराणिकता का एक विशिष्ट अंग उपस्थित है। सूरदास के सूरसागर के पदों का संकलन भले ही श्रीमद्भागवत की कथा को सामने रख कर किया गया है, इसमें कोई संदेह नहीं कि उन पदों के पीछे श्रीमद्भागवत की प्रेरणा भर दी है। न उसकी कथावस्तु से सहारा लिया गया है, न वह भागवत का अनुवाद ही है। यह सच है कि संपूर्ण भागवत अथवा उसके कुछ भागों के अनुवाद भी कृष्ण-काव्य के अंग हैं परन्तु यहाँ हम उन्हीं रचनाओं की बात कर रहे हैं जिन्होंने कृष्ण-काव्य को उसका विशेष व्यक्तित्व प्रदान किया है। जो हो, कृष्ण-काव्य राम-काव्य से अधिक मौलिक है। उसका आधार मध्ययुग के संप्रदायों की पूजा-पद्धति और धर्मभावना में है, पुराणकालीन धर्मभावना में नहीं।

यह स्पष्ट है कि वैष्णव-भक्ति धारा का इतिहास हमें किसी न किसी रूप में हज़ारों वर्ष पहले तक ले जा सकता है। डॉ॰ भंडारकर ने ५०० पू० ई० के लगभग प्रचलित वासुदेव और नारायणी मतों से इस भावधारा का सम्बन्ध जोड़ा है। शुङ्गों के समय (ई० पू० पहली-दूसरी शताब्दी) में इस धर्म की विशेष वृद्धि हुई और पंचरात्र जैसे प्राचीन सम्प्रदायों से उसका सम्बन्ध जुड़ा। परंतु वैष्णव धर्म-भाव का विशेष विकास ५०० ई० के लगभग गुप्तकाल में एक नये रूप में हुआ। गुप्त-सम्राट् 'परम वैष्णव' कहलाते थे और उनके ध्वज में विष्णु के वाहन गरुड़ की मूर्ति रहती थी। बाद में शिव और शक्ति को लेकर अनेक संप्रदाय चले और वैष्णव मतवाद की धारा निर्बल पड़ गई। जान पड़ता है, १०वीं-११वीं शताब्दी में विष्णु की फिर प्रतिष्ठा बढ़ी और अगली पाँच शताब्दियों ने उसे नया रूप दे दिया। कालांतर में इसी ने हिन्दी को राम-काव्य और कृष्ण-काव्य दिया। ऐतिहासिक

रूप से प्राचीन होते हुए भी मध्ययुग की वैष्णव-भावना युग भावना थी ।

हिन्दी के राम-काव्य का प्रथम कवि कौन है यह निश्चित नहीं है । हमें दो कवियों के तो ग्रन्थ प्राप्त हैं जो रामचरितमानस से पहले रचे गये हैं परंतु राम-काव्य का ठीक-ठीक रूप तुलसी के रामचरितमानस में ही स्थिर हो सका है ।

तुलसीदास

तुलसी के साहित्य में काव्य का अन्तरंग और वहिरंग दोनों पूर्ण-रूप से पुष्ट हैं । काव्य के वहिरंग में आते हैं—भाषा, शैली, छन्द । तुलसी ने अपने समय की दोनों साहित्य-भाषाओं (ब्रज और अवधी) में कविता की ; मुक्तक, गीत, प्रबन्ध-काव्य सभी शैलियों पर सफलता से लेखनी दौड़ाई और आधे शतक छन्दों का अत्यन्त कौशलपूर्ण प्रयोग किया । प्रत्येक भाषा, प्रत्येक शैली, प्रत्येक छन्द में वह अद्वितीय रहे । यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अवधी पर अधिक अधिकार था या ब्रज पर । विनय-पत्रिका के गीत रामचरितमानस की दोहा-चौपाइयों से प्रौढ़ हैं या किसी विशेष छन्द के प्रयोग में तुलसी असफल या कम सफल रहे हैं । सूरदास गीतों में अत्यन्त सफल रहे, चौपाइयों में चूक गये ; बिहारी की प्रतिभा प्रबन्ध-काव्य की रचना नहीं कर सकती थी, यह निश्चय है । परन्तु तुलसी कहाँ कम महान् हैं, यह समझ में नहीं आता ।

परन्तु काव्य का वहिरंग इतना महत्वपूर्ण नहीं होता जितना अन्तरंग । इस अंतरंग के कई अंग हैं – रस, कल्पना, चरित्र-चित्रण, भाव-जगत, आध्यात्म, कथानक, यहाँ भी प्रत्येक कवि सभी अंगों में सफल नहीं हो सकता । कोई रस सृष्टि में अद्वितीय है, कोई भाव

जगत के निर्माण में, कोई चरित्र-चित्रण में। सूरदास के काव्य से चरित्र-चित्रण और कथानक का कोई दुष्ट रूप हमारे सामने नहीं आता। जहाँ तक रसोद्रेक भावसृष्टि और कल्पना-वैचित्र्य का सम्बन्ध है, वे तुलसी के समकक्ष हैं; श्रृङ्गाररस, विशेषतया विरह-काव्य में तुलसी से श्रेष्ठ भी हैं। अकेले तुलसी सबमें श्रेष्ठ हैं। हो सकता है, कहीं अधिक श्रेष्ठ हों, कहीं कम। काव्य के सब अंगों को इतनी श्रेष्ठता से निभाने के लिए यह आवश्यक था कि कोई रंग कभी दब जाता, और रंग कहीं उभर आता परंतु काव्य के अंतरंग का इतना सब कुछ और सब कहीं इतना सुन्दर अन्य स्थान पर नहीं मिलेगा, यह निश्चय है।

तुलसीदास के काव्य में भी गीतावलियाँ, विनयपत्रिका और रामचरितमानस सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें पिछले दो ग्रन्थों के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कौन अधिक श्रेष्ठ है। कुछ विद्वान विनय-पत्रिका को रामचरितमानस से अधिक उत्तम मानते हैं। कुछ रामचरितमानस को यह श्रेय देते हैं। यदि हम इन दोनों ग्रन्थों को लेकर इनके जोड़ का कोई एक ग्रन्थ किसी साहित्य में ढूँढ़े तो हम निराश होंगे। साहित्य का मूलाधार है संस्कृति। मध्य-युग की हिन्दू संस्कृति का हृदय है विनयपत्रिका और मस्तिष्क है रामचरितमानस। परंतु रामचरितमानस में हृदय का आलोड़न-विलोड़न और भक्तिरस का परिपाक भी कम नहीं है। स्वयम् तुलसी ने उसे अपनी भक्ति-भावना को पुष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखा है। रामचरितमानस को समाप्त करते हुए वे कहते हैं—

जाकी कृपा लवलेश ते मतिमन्द तुलसीदास हू।
पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहू॥

जो हो, मूलतः इन्हीं दोनों पुस्तकों के बल पर तुलसीदास को सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है।

रामचरितमानस काव्य-शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ ग्रन्थ है। बिहारी सतसई की भाँति वह व्यंजनामूलक काव्य नहीं है, न सूरसागर की भाँति भावना-बहुल। परंतु यही उसकी श्रेष्ठता का कारण भी है। इस अभिधात्मक कथाकाव्य में तुलसी रस, चरित्र-चित्रण और भक्ति-भावना के साथ भावों और शैली का इतना सुन्दर गठबंधन कर सके हैं कि सम्पूर्ण काव्य के अध्ययन के बाद उनकी प्रतिभा पर मुग्ध होना पड़ता है। श्रेष्ठ साहित्य नैतिकतामूलक होता है। रामचरित-मानस में नैतिक संदेशों की कमी नहीं है। उसमें कथावस्तु के साथ सामाजिक, नैतिक और वैयक्तिक आदर्शों को एक सूत्र में इस तरह गूँथ दिया गया है कि उन्हें किसी प्रकार भी अलग नहीं किया जा सकता। तुलसी का यह ग्रन्थ एक साथ जीवन दर्शन, व्यवहार-शास्त्र, महाकाव्य और धर्मशास्त्र (भक्ति-शास्त्र) है।

फिर भी मानस मूलतः गीति-पाठ के लिए है, यह तुलसी की इन पंक्तियों से ही स्पष्ट है—

रघुबंस-भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥

इसी से उसका निर्माण प्रचलित पुराण-पद्धति पर हुआ है। इस पद्धति में कथा की रचना संवाद-रूप में होती है। रामकथा जहाँ-जहाँ पौराणिक रूप में मिली है, वहाँ-वहाँ सम्वाद-रूप में ही हमारे सामने आई है। इसीलिए तुलसी ने भी यही रूप ग्रहण किया है।

तुलसी के ग्रन्थ की विशेषता यह है कि वह किसी विशेष सम्प्रदाय के भीतर से नहीं आया है। इसी कारण उसमें किसी विशेष दार्शनिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय के मत का पोषण नहीं किया गया है। अनेक स्थानों पर कवि ने आश्चर्यजनक समन्वय-बुद्धि का परिचय दिया है। इन्हीं कारणों से उसका ग्रन्थ सभी सम्प्रदायों को मान्य

रहा है। प्रत्येक सम्प्रदाय मानस को अपने ढङ्ग पर अपनाता और अपने मत को उस पर आरोप करता रहा है। इतना होने पर भी यह आश्चर्य की बात है कि मानस के प्रधान अर्थ में किसी प्रकार की विकृति नहीं हुई है।

यह प्रधान अर्थ क्या है? मानस का तात्पर्य है भक्ति-रस निरूपण। मानस में कथा-प्रसंग के अन्तर्गत जितने भी रस आये हैं उन सबका उपसंहार भक्तिरस में हुआ है। सारा ग्रन्थ राम की ब्रह्म-भावना से भरा हुआ है। राम ब्रह्म हैं। सीता शक्ति हैं। उनका लौकिक-जीवन लीला-मात्र है। संसार माया है। माया राम की दासी है। उन्हीं के इंगित से वह मनुष्य को नचाती है। मनुष्य माया-जन्य भ्रम के कारण ही परिस्थितियों पर सुख-दुख का आरोप करता है। सच्ची वस्तु-स्थिति को वह समझता नहीं। माया का नाश भगवान राम की कृपा से ही हो सकता है। राम की कृपा का एकमात्र साधन भक्ति है। यह तुलसी का मौलिक मत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के मानस को आधार-भूमि भक्ति है। उसे दर्शन से पुष्ट किया गया है। उस पर संवादों की दीवारें उठाकर कथावस्तु से राम-सीता मन्दिर की स्थापना की गई है। छन्द, रस, अलंकार, सम्वाद, वर्णनां, स्तुतियां और गीताओं का उपयोग इस विशाल मन्दिर की, सामग्री के रूप में हुआ है। इसमें अन्तर्कथाओं और कथा-संकेतों के झरोखे लगे हैं। काव्य की सुन्दर मीनाकारी से यह मन्दिर विभूषित है। प्रारम्भिक विनय-चौपाइयों के बाद पाठक भीतर प्रवेश करता है और शिव-पार्वती-विवाह, नारद-मोह, भानुप्रताप और स्वयंभू-शतरूपा की कथाओं की ड्योढ़ियां को पार करता हुआ रामकथा के मुख्य मूर्ति-भवन में प्रवेश करता है। यहाँ उसे भगवान राम, भगवती सीता और पार्श्वद-स्वरूप लक्ष्मण-

हनुमान की झाँकी मिलती है और राम ही के समान प्रभावशाली एक तापसमूर्ति सामने आती है। यह भरत हैं। आदर्श चरित्रों से मण्डित तुलसी की राम-कथा ने जनता के लिये एक साथ प्रार्थना-भवन और शिक्षागृह का निर्माण कर दिया है। उच्च से उच्च कल्पना के दर्शन करना हों तो तुलसीदास की उत्प्रेक्षाएं देखिये और उनकी काव्य-प्रतिभा को देखना हो तो उनके रूपकों का निर्वाह देखिये। सीता के रूप की संयत स्वच्छ और पुण्यमय कल्पना—

जों पटतरिय तीय सम-सीया।
जग असि जुबति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तन अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बन्धु प्रिय जेही।
कहिअ रमा-सम किमि बै[illegible]॥
जो छवि-सिन्धु [illegible] निधि [illegible]
परम रूप-मय [illegible]कछप [illegible]
सोभा रजु मन्दरु [illegible]
मथै पानि पंकज निज [illegible]॥
एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मू[illegible]।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय [illegible]॥

—कवि-कल्पना की सर्वोच्च उड़ान है। इसके प[illegible] यदि तुलसी के आदर्शवाद को देखना हो तो रथरूपक देखिये, उनकी भक्ति को देखना हो तो सारा अयोध्याकांड उत्तरार्द्ध उपस्थित है। [illegible] विज्ञान और हिंदू गृहस्थ-जीवन के चित्रण अयोध्या[illegible] [illegible]र्द्ध में मिलेंगे और दार्शनिक विवेचन से तो उत्तरकांड [illegible] है। हिंदी साहित्य में तुलसी ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपने [illegible] की दो प्रमुख

काव्य-भाषाओं का अत्यंत उत्कृष्ट प्रयोग किया है, अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों में रचना की है, अनेक छंदों पर सरलता से लेखनी चलाई है और उनमें से प्रत्येक में रस, अलंकार और ध्वनि भरने में सफल हुए हैं। उनके रामभक्ति-साहित्य में लोक और परलोक, काव्य और धर्म, मृत्य और अमृत्य की सीमाएँ आ मिली हैं।

विनयपत्रिका गोस्वामी तुलसीदास की अन्तिम और प्रौढ़तम रचना है। उसकी समाप्ति तक तुलसीदास जीवन के अंतिम छोर तक पहुँच गये हैं। विनयपत्रिका का महत्व कई प्रकार से है। एक, वह कवि की प्रौढ़तम रचना है। उसकी शैली कवितावली के कुछ छन्दों को छोड़कर तुलसी के सभी ग्रन्थों की शैली से अधिक पुष्ट है। भाव-व्यंजना में इतनी तीव्रता है कि कवि को एक से अधिक भाषाओं का सहारा लेना पड़ता है। दो, यह हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्य की कोटि में रखा जा सकता है। विनय-भावना के इतने सुन्दर पद तो सूर-साहित्य में भी नहीं मिलेंगे। तन्मयता, आत्मविस्मृति, भाव-संगठन और गीतात्मकता गीतिकाव्य के प्रधान गुण हैं और तुलसी के इस ग्रन्थ में ये सब गुण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। तीन, तुलसी की भक्ति के समझने के लिए इस ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति महत्वपूर्ण है। चार, तुलसी के आध्यात्मिक विचारों के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ एक प्रकार से नई सामग्री उपस्थित करता है। यह आवश्यक है कि इस सामग्री को रामचरितमानस की सामग्री के साथ रखा जाय। इसी सामग्री के आधार पर तुलसी के जीवन-निर्माण-सम्बन्धी सिद्धांत बनाये जा सकते हैं। पाँच, कुछ सामग्री कवि के लौकिक जीवन से संबंध रखती है, यद्यपि इसमें से अधिक वृद्ध कवि के अंतर्जगत का चित्र है।

विनयपत्रिका में तीन शैलियों का प्रयोग हुआ है—स्तोत्र-शैली, पद-शैली, कवित्त आदि छंद-शैली। तुलसी के स्तोत्र साहित्यिक दृष्टि

से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। उनमें कवि-भक्त ने संस्कृत स्तोत्रों का अनुकरण किया है। इनमें से अधिकांश संस्कृत-गर्मित हैं और साधारण हिंदी पाठक के लिए क्लिष्ट हैं। इनमें अनेक देवी-देवताओं की लीलाओं का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है और एक ही प्रकार की बात की बार-बार पुनरावृत्ति हुई है। इन स्तोत्रों में तुलसी की भक्ति-भावना-सम्बन्धी एक बात पर विशेष प्रकाश पड़ता है। तुलसी ने अनेक देवी-देवताओं की प्रार्थना की है परन्तु उनकी भक्ति अनन्य कोटि की है; सब देवता राम के निमित्त ही उपास्य हैं, तुलसी के लिए उनका स्वतन्त्र रूप से कोई उपयोग नहीं।

विनयपत्रिका के पदों से तुलसीदास की दैन्यपूर्ण भक्ति पर विशेष प्रकाश पड़ता है। विनय-भक्ति के ये अंग माने गये हैं—(क) प्रपत्ति अथवा अनुकूल होने का संकल्प (दास्य-भाव), (ख) प्रतिकूलस्य वर्जनम् (देवैच्छा के प्रतिकूल कुछ न करूँगा—ऐसा भाव), (ग) रक्षिष्यतीति विश्वासो (भगवान की रक्षा में विश्वास) (घ) गोप्त्रत्वा वर्णनम् (भगवान को मुक्तिदाता और भक्तवत्सल जानना), (ङ) आत्म निक्षेप (समर्पण-भाव), (च) कार्पण्य (भगवान के प्रति दीनता का भाव)। विनय-पत्रिका के अनेक पद इनके उदाहरण स्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं। सच तो यह है कि विनय के पदों में वैष्णव सम्प्रदाय के विनय-सम्बन्धी सिद्धान्तों का पूरा पूरा परिचय मिलता है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार विनय की सात प्रकार की भूमिकाएं होती हैं—[१] दीनता [२] मान-मर्षता [३] भय-दर्शन [४] भर्त्सना [५] आश्वासन [६] मनोराज्य [७] विचारण। इन सात भूमिकाओं के अभाव में विनय अपूर्ण समझी जाती है। तुलसी के विनय पदों में ये सातों प्रकार की भूमिकाएँ मिलती हैं। अतः साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की दृष्टि से भी तुलसी के विनय पद उत्कृष्ट हैं।

अतः तुलसी के आध्यात्मिक विचारों का अध्ययन करने के लिए

विनयपत्रिका बहुत महत्त्वपूर्ण है, कदाचित् रामचरितमानस से भी अधिक। उससे तुलसी की वृद्धावस्था की भक्ति-भावना पर प्रकाश पड़ता है। और यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचरितमानस की रचना के बाद भी तुलसी के आध्यात्मिक विचारों में बराबर विकास होता गया और विनयपत्रिका में हमें उनके पूर्ण-विकसित-रूप के दर्शन होते हैं। रामचरितमानस की भक्ति ज्ञान और कर्म को साथ लेकर चलती है। उसे हम ज्ञान-कर्म-समन्वित भक्ति कह सकते हैं। विनय-पत्रिका की भक्ति अनन्य भक्ति है। वह न किसी देवता का आश्रय लेती है, न किसी दूसरी उपासना-पद्धति का। ज्ञान और कर्म पीछे छूट जाते हैं। तुलसी उनकी ओर मुड़ कर भी नहीं देखते। उनके लिए केवल भक्ति ही एक साधना है, जिससे वे अपने उपास्य के निकट पहुँचते हैं। यही नहीं, भक्ति उनके लिए केवल साधना नहीं, साध्य भी है। तुलसीदास प्रत्येक देवता से रामभक्ति की याचना करते हैं। स्वयम् राम से भी वे यही याचना करते हैं कि रामचरण-रति प्राप्त हो। उनका कहना है—और काहि माँगिए। इस अन्तिम समय में तुलसी ने और नाते छोड़ कर केवल राम से नाता जोड़ा है। उनका और उनके उपास्यदेव का सम्बन्ध इस पद से पूर्णतः स्पष्ट है—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मों सों?
मो समान आरत नहिं आरति-हर तोसों॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तुम्हीं ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब बिधि हितू मेरो॥

इस राम-भक्ति को प्राप्त करने के साधनों के विषय में भी तुलसी को कुछ कहना है। पहला साधन है राम के शील-स्वभाव का मनन—

सुनि सीता पति सील सुभाउ
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ

दूसरा साधन है नाम-स्मरण—

मति राम नाम ही सों, रति राम नाम ही सों,
गति राम नाम हीं कीं विपति हरनि
राम नाम सों प्रतीत प्रीति राखे कबहुँक
तुलसी ढरैंगे राम अपनी ढरनि

तीसरा साधन है आर्तनिवेदन—

बलि जाउँ हौं राम गोसाईं।
कीजै कृपा आपना नाईं॥

चौथा साधन है सत्संग—

सेवत साधु द्वैत-भय भागे।
श्री रघुबीर चरन-लय लागे॥

इसी के अन्तर्गत आ जाता है असाधु से असहयोग—

जाके प्रिय न राम वैदेही
सों छाँड़िये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

पाँचवा और कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण साधन है हरिकृपा। हरिकृपा के बिना अन्य साधन भी नहीं सधते। उसके बिना सत्संग की प्राप्ति तो असम्भव ही है। यह राम-कृपा तभी मिल सकती है जब राम करुणा से द्रवित हों, परन्तु राम को द्रवित करना कुछ कठिन बात नहीं है। भक्त पर कृपा करना तो राम की बानि ही है, उन्हें पता चल जाय कि वह उनसे प्रेम कर रहा है। परन्तु आवश्यकता यह है कि मनुष्य पहले राम की शरणागति में जाये। फिर हरिकृपा उसे

अनायास ही प्राप्त होगी। और उसके लिए हरिभक्ति के साधन भी इकट्ठे हो जायेंगे।

परन्तु हरिभक्ति की आवश्यकता क्या है ? इसकी आवश्यकता है इसलिए कि मनुष्य शांति चाहता है। शांति मन का विषय है। मन को शुद्ध और संयत करने से शांति प्राप्त होती है परंतु मन को शुद्ध और संयत रखना सरल नहीं है। इसके लिए अनेक साधन कहे गये हैं परंतु कलिकाल में सब व्यर्थ हैं। इसीलिए आवश्यकता है कि मन किसी एक वस्तु की ओर उन्मुख किया जाय। राम के चरणों में अनुरक्ति होने से सारे दुख दैन्य दूर हो जाते हैं और मन शुद्ध और एकनिष्ठ होकर शांति को प्राप्त करता है। मन की अशांति का कारण क्या है, इस पर तुलसीदास ने विचार किया है। यह है संसार की द्विविध सत्ता। यह संसार रमणीय दिखलाई पड़ता है परंतु परिणाम में भयंकर है। परंतु वास्तव में यह संसार न रमणीय है, न भयंकर। यह संसार हमें भयानक लगता है इसका कारण ही भ्रम और अविवेक है। इस अविवेक और भ्रम को दूर करने के लिए क्या किया जाये ? इस अयिवेक और भ्रम के दूर होने पर संसार की भयंकरता भी नष्ट हो जाती है। परन्तु यह भ्रम हरिकृपा के बिना नहीं छूटता। इस प्रकार भी हरिकृपा वांछनीय है।

तुलसी की विनयपत्रिका प्रतिपादित भक्ति संसार को छोड़ कर चलती हो यह बात नहीं, उसमें जीवन-निर्माण का एक अत्यंत उन्नत और उच्च आदर्श सन्निहित है। उसकी नींव नैतिकता में है। संतोष, परहितचिंतन, मृदु संलाप, रागद्वेषहीनता, मानहीनता, शीतलता, सुख-दुख में समबुद्धि—ये कुछ ऐसे गुण हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपादेय हैं, भले ही वह रामभक्ति में विश्वास करे या नहीं। तुलसी ने अपने जीवन का आदर्श यही नैतिक जीवन रखा है।

हमारे देश में लगभग १००० वर्ष तक भक्ति की धारा अनेक

आवर्तों-विवर्तों में हो कर बही है और उसका समाज पर अत्यंत गहरा प्रभाव पड़ा है ! यदि भक्ति और समाज के सम्बन्ध में कहीं निश्चय-पूर्वक कुछ कहा जा सकेगा तो हमारे ही देश में कहा जा सकेगा जहाँ दस शताब्दियों तक भक्तों और उनके प्रभाव की परंपरा चली आती है ।

मूलतः भक्ति वैयक्तिक साधना है । वह उपासक के साथ इष्ट देव का ऐसा सम्बन्ध है जिसे उपासक किसी भी माध्यम के बिना स्वतः स्थापित करता है । समाज में मनुष्य-मनुष्य का कोई न कोई सम्बन्ध है । भक्ति के क्षेत्र में प्रारंभिक रूप से इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं । प्रत्येक भक्त भक्ति की साधना अपने ढङ्ग से करता है और अपनी साधना में वह जितना सफल होता जाता है उतना ही वह समाज से दूर होता जाता है और भगवान् के निकट पहुँचता जाता है । परंतु इस वैयक्तिक साधना से समाज का दूर का भी कोई संबंध हो सकता है या नहीं, यही देखना है । इसके लिए पहले हमें भक्ति की मूलगत विशेषताओं पर प्रकाश डालना होगा ।

भक्ति की पहली सीढ़ी है शील और सदाचार का संग्रह । भक्त का प्रत्येक क्षण इस प्रयत्न में जाता है कि वह भगवत्कृपा का अधिकारी हो । तुलसी की भाँति वह भी सोचता है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित निरत निरन्तर मन-क्रम-वचन नेव निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
विगत मान, सम सीतल मन, पर गुन नहिं दोख कहौंगो ॥
परिहरि देह-जनित चिन्ता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो ।

"तुलसीदास" प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो

इस शील और सदाचार की साधना में अनेक सामाजिक गुणो का संग्रह आप ही हो जाता है। भक्त को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। संत-स्वाभाव के अंतर्गत सब कुछ आ जाता है—संतोष, अनासक्ति, परहित साधन, मिष्ठ भाषण, मानहीनता, समबुद्धि। यही गुण हैं जिन्हें हम समाज के लिए हितकर समझते हैं। फिर हम कैसे कह सकते हैं कि भक्ति की धारा ने समाज को हानि पहुँचाई, क्या भक्तो के इन उपादेय गुणो ने समाज के प्रति-दिन के वातावरण को प्रकाश से न भरा होगा? क्या भक्तों का जीवन ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि श्रेष्ठ व्यक्तिगत गुण कालांतर में सारे समाज में पहुँच जाते हैं?

वास्तव में वैष्णव-भक्ति की धारा ने समाज का कई प्रकार से शुद्ध किया है। जिन्होंने वैष्णव आन्दोलन के इतिहास का अध्ययन किया है, वे यह जानते हैं कि वैष्णवधर्म हिंसा के विरोध में ही उठा था। अतः समाज को मन, वचन, कर्म से अहिंसक बनाने का प्रयत्न वैष्णव धर्म ने ही किया। यदि बुद्ध के समय में उठी हुई यह अहिंसा की लहर वैष्णव-धर्म के द्वारा हम तक न पहुँची होती तो आज हम महात्मा गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलनों को एकदम असफल या अव्यवहारिक पाते। वैष्णव-धर्म ने जनता की आत्मा को ईश्वर विश्वास से दृढ़ किया। उसने भक्ति द्वारा समाज के हृदय का परिष्कार किया। उसने व्यक्तिगत आचरण पर बल देकर समाज मे सदाचार की प्रतिष्ठा की।

जब हम भक्तों और समाज में सम्बन्ध जोड़ने बैठते हैं तो अजीब-अजीब बातें कहने लगते हैं। क्या भक्तों का समाज से कोई सम्बन्ध भी है? भक्त-समाज में हैं ही कहाँ? उनका साहित्य पराजय,

आत्मप्रतारण और अन्धविश्वास का साहित्य है ? भक्तों ने ईश्वरावतार का भुलावा देकर हमें शताब्दियों तक मुसलमानों का गुलाम बनाये रखा ? उन्होंने पाखण्ड और परलोकवाद को आश्रय दिया। उन्होंने व्यक्तित्व के परिष्करण पर बल देकर समाजत्व की उपेक्षा कराई। भक्त-काव्य पलायनवादी साहित्य है। इस प्रकार के भ्रामक विचार आज हममें घर किये हुए हैं। बस, विचारों को ही सब कुछ मान बैठने वाले लोग यह नहीं जानते कि समाज एक व्यापक वस्तु है और उसमें वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में रहने वाले मनुष्यों का भी स्थान है। वानप्रस्थी और संन्यासी भी समाज के सदस्य हैं और उसपर प्रभाव डालते हैं। भक्त तो समाज में रह कर जीविका चलाते थे या समाज को ही अपना कर्मक्षेत्र बनाये हुए थे। संतों (कबीर, दादू, नानक, प्रभृति निर्गुणवादी भक्तों) ने तो अपना-अपना व्यवसाय और लौकिक व्यवहार भी पूर्णतयः बनाये रखा। वे बराबर समाज के सदस्य (गृहस्थ) रहे। कृष्ण-भक्तों का सम्बन्ध बड़े-बड़े मन्दिरों से था जहाँ जनता उनके गान-कीर्तन-उपदेश को सुनने के लिए प्रतिदिन उपस्थित होती थी। वस्तुतः मन्दिर ही मध्ययुग में समाज के केन्द्र हो रहे थे और जनता को वहीं से धर्म-ज्ञान के सन्देश मिलते थे। इस प्रकार राजशक्ति खोकर हिन्दू जाति और हिन्दू समाज वृन्दावन-मथुरा के कृष्ण-मन्दिरों, अयोध्या के राम-मन्दिरों और काशी के मन्दिरों एवं पंडितों के निवास स्थानों में केन्द्रित हो गए थे। इन्हीं केन्द्रों से भक्ति का सन्देश समाज तक पहुँचा और उसने समाज को आध्यात्मिक और नैतिक कितने ही अमूल्य सन्देश दिये एवं उसकी स्थिति को डाँवाडोल होने से बचा लिया।

जो हो, यह निश्चित है कि रामभक्ति-काव्य वैष्णव-काव्य का एक प्रधान अंग है और तुलसी इस काव्य के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। तुलसी की महत्ता का मूल्यांकन करने का सबसे अच्छा ढङ्ग यह होगा कि

उनके काव्य को कृष्ण-काव्य के समक्ष रखा जाय और यह देखा जाय कि वह उससे किस प्रकार भिन्न है और कहाँ उत्कृष्ट है। कृष्ण काव्य में राधा-कृष्ण को लेकर ऐसे एकांतिक प्रेम का चित्रण किया गया है जो नैतिक आदर्शों एवं समाज और संयम की नितांत अवहेलना करता है। कृष्ण कवि भक्त समाज को पीछे छोड़ कर भाव भूमि की ओर बढ़े हैं। रामभक्ति-काव्य में यह बात नहीं है। उसमें नैतिक तत्वों को उच्चतम स्थान दिया गया है, समाज की कल्याण भावना को कवि सदैव अपने सामने रखता है। उसमें मर्यादा-भाव की प्रधानता है। एक तरह से उसकी दृष्टि हिन्दू संस्कृति के अभ्युत्थान की ओर है। यहीं तक नहीं, कवि का दृष्टिकोण बहुत कुछ अतिनैतिक हो गया है और आज के युग को अखर भी सकता है। परन्तु इसी सामाजिक कल्याण और संयम की भावना ने रामकाव्य को हिन्दू गृहस्थ जीवन और दाम्पत्य प्रेम के अन्यतम चित्र उपस्थित किये हैं। सारे हिन्दी साहित्य में। प्रेम का ऐसा सुन्दर, सन्तुलित, संयमित और दाम्पत्य-भावपूर्ण-चित्रण और कहीं नहीं है जैसा तुलसी के मानस में।

तुलसी के बाद न उनकी राम-कथा का ही विकास हुआ, न रामकाव्य अधिक उत्कर्ष को प्राप्त कर सका। कारण स्पष्ट है। दोनों मार्ग तुलसी ने स्वयं बन्द कर दिये थे। इसके अतिरिक्त तुलसी के मानस ने तो धर्मग्रन्थ का रूप प्राप्त कर लिया और श्रद्धास्पद कवियों ने तुलसी से स्पर्द्धा न की। स्वयं राम-कथा ऐसी बँधी-सधी वस्तु है कि "फुटकरिए" कवि उस ओर परम्परा निभाने के सिवा विशेष प्रयत्न का ध्यान ही नहीं कर सकते थे। यहाँ कृष्ण-काव्य की तरह किसी एक अंग को लेकर नवीन अनुभूति भरने या पुराने मधु को नये पात्र में भरने भर की बात नहीं थी। कृष्ण-काव्य में इस तरह के अंग थे जो युग की विलास-प्रवृत्ति एवं पांडित्य-प्रदर्शन की अभिरुचि को

प्रश्रय देते थे। पहले में राधाकृष्ण और गोपियों की अनेक क्रीड़ायें, हास-परिहास और विरह-मिलन। दूसरे में भ्रमरगीत। मध्य-युग के कृष्णभक्ति-काव्य के बाद कृष्णकाव्य के इन्हीं दो अंगों पर सहस्र-सहस्र मुक्तक रचनाएँ सामने आईं। काव्य-शास्त्र-चर्चा के बहाने कवियों ने व्यास की गोपी-कृष्ण की रहस्य-लीला को गली-कूचों में फिरनेवालों का खेल-तमाशा बना दिया और समाज की सम्भ्रांत नायक-नायिका नहीं—निम्न श्रेणी के प्रेमी-प्रेमियों के रूप में राधा-कृष्ण को देखा। रामसीता भी अयोध्या के महन्तों की कृपा से साहित्य की इस पंक में फंस गये, परन्तु फिर भी तुलसी की रामसीता की दिव्य-दम्पति-मूर्ति धर्म और काव्य के उच्च देव सिंहासन पर आरूढ़ रही। यह सम-कालीन और परवर्ती काव्य पर तुलसी की महान् विजय नहीं तो क्या है?

तुलसी ने भारतीय भाव-धारा को क्या दिया, यह तो तुलसी के किसी भी पाठक से पूछा जा सकता है—राम में ब्रह्म-भावना रखते हुए दैन्यभाव से भावुकतापूर्ण भक्ति। मानस और विनय-पत्रिका में दो ग्रन्थ उनकी भावधारा को इसी ओर प्रवाहित करते हैं। मानस में हमें उनकी भक्ति का एक रूप मिलता है। उसे हम ज्ञानाश्रित अद्वैत-भक्ति कह सकते हैं। यही भावना विनय-पत्रिका में अनन्य-भक्ति हो जाती है जहाँ मूलतः अद्वैत तत्त्व को जानता हुआ भक्त भावना में डूब कर द्वैतभाव से दैन्य रखता हुआ भक्ति करता है। परन्तु इस अनन्यभक्ति का पालन करते हुए भी तुलसी अवतारवाद और देवता-वाद को स्वीकार करते हैं। उपासना के क्षेत्र में यह सामञ्जस्य विचित्र है, परन्तु यही तुलसी की मौलिकता भी है। अपने ग्रन्थों के माध्यम से तुलसी ने इसे ही देश, धर्म और समाज को दिया है। दोनों प्रधान ग्रन्थों में हम इसको विकसित देखते हैं। मानस में शिव और राम में जैसा सम्बन्ध स्थापित किया गया है, वह देश-काल के लिए

उपयोगी था, यह ऐतिहासिक सत्य है। उस समय वैष्णवों और शाक्तो में घमासान युद्ध हो रहे थे। बात दक्षिणापथ की है। उत्तर में इस प्रकार के धर्म-कलह उपस्थित थे, इसका प्रमाण स्वयं तुलसी की कविता में मिलेगा, परन्तु दोनों पक्षों की ओर से विरोध सहते हुए भी तुलसी ने राम और शिव में परस्पर "सेवक, स्वामि, सखा' का नाता जोड़ा और शिव-भक्ति को राम-भक्ति की भूमिका बना दिया। उनके राम ने स्वयं कहा--

शिवद्रोही मम दास कहावै।
सो नर सपने मोंहि न भावै॥

रामचरितमानस की भूमिका में इसीलिये शिवचरित्र की प्रतिष्ठा हुई। गरुड़-कागभुसुण्डि-सम्वाद में काग के चरित में निर्गुण और सगुण का भी समाधान किया गया है और "हिम-जल-उपल" की उपमा से रूपों के भीतर अरूप और अरूप के भीतर रूप की प्रतिष्ठा का सामञ्जस्यमय-सिद्धान्त समझाया गया। विनयपत्रिका में देवतावाद की स्वीकृति ही नहीं है, उसका परिहार रामभक्ति में हुआ है। सब देवताओं का प्रेम राम की ओर ही उन्मुख होता है, इस सिद्धान्त में न कोई देवता छोटा है, न कोई देवता बड़ा। यह सिद्धान्त तुलसी का व्यक्तिगत सिद्धान्त नहीं है। पद्म पुराण और अध्यात्म में शिव-विष्णु का सहज सम्बन्ध स्थापित था ही। देवतावाद के भीतर ब्रह्म की प्रतिष्ठा बहुत प्राचीन काल से होती आई है; ऋग्वेद और उपनिषदों से भी उद्धरण दिये जा सकते हैं। परन्तु तुलसी ने इन्हीं सिद्धान्तों को एक बार फिर व्यक्तिगत अनुभूति का बल देकर जनता के सामने रखा और जनता ने इन्हें "तुलसी का मत" मान कर ग्रहण किया।

परंतु तुलसी ने इससे भी अधिक महत्वपूर्ण काम किया। वह है

सामाजिक क्षेत्र में पग-पग पर संयम की महत्ता का प्रदर्शन। परस्पर के सहयोग, शिष्टाचार, सदाचार, सहानुभूतिपूर्ण आदान-प्रदान—यही तो समाज भित्ति है। इन्हीं भावनाओं पर तुलसी ने बल दिया। उस युग की पृष्ठ-भूमि में रखने पर हमें जान पड़ेगा कि यह कितने क्रांतिकारी सिद्धांत थे। भारतीय कौटुम्बिक जीवन में सम्मिलित परिवार और सामाजिक जीवन की पारस्परिक सहानुभूतिपूर्ण भावना के साथ मर्यादा भाव से वर्णाश्रम का पालन—यही तुलसी के मन्तव्य हैं। परन्तु आज की स्वतंत्रता की आवाज़ इनमें कहाँ मिलेगी? हमें कवि की प्रगतिशीलता को जाँचने के लिए उसके युग की वीथिका को ध्यान में रखना पड़ेगा। आज के दृष्टिकोण से तो हम यही कहेंगे कि तुलसी ने भारतीय समाज के वर्ण-विभाजन को ही प्रश्रय दिया और उनके रामराज्य में शूद्र और नारी को रंच मात्र में सुख नहीं होता। यह हम कह सकते हैं कि तुलसी अपने समय से ऊपर उठ कर भविष्य को नहीं देख पाते। हमें यह कहना है कि तुलसी ने एक विशेष पहलू से जीवन को देखा और उन्होंने अपने समय के उच्छृङ्खल अनाचार-मय जीवन के लिए एक विशेष प्रकार के निदान बताये। दूसरे प्रकार के निदान आज हमारे सामने आ रहे हैं। हमें देखना है वे कितने सफल हैं। परन्तु तुलसी ने जिस विशेष प्रकार का उपचार सामने रखा उसने परिवर्तनशील समाज को भित्तियों पर दृढ़ रखा और उनके समय में ही नहीं, बाद में भी धार्मिक और सांस्कृतिक वैमनस्य-पूर्ण बवंडरों से समाज की रक्षा की। दो सौ वर्ष बाद आने वाले ईसाई मतवाद और पाश्चात्य सभ्यता की वेगवती अनिष्टकारी बाढ़ में भी उसने समाज की नौका की गति-विधि का नियंत्रण किया और उसे कम-से-कम उतराये रखा। इतना ही क्या कम है? तीन सौ वर्ष तक उत्तरभारत के जिस जर्जर हिन्दू समाज और धर्म को तुलसी एकता धागे में पिरोये रहे, वह क्या कभी उनके ऋण को चुका सकेगा?

६

सूफ़ी-काव्य

हिन्दी सूफ़ी काव्य का सम्बन्ध इस्लामी आध्यात्मिक विचारधारा से है। इस दृष्टि से वह बहुत कुछ विदेशी है, परन्तु भाषा, छन्द और साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से वह हिन्दी काव्य के ही अन्तर्गत आता है। कबीर और जायसी हिन्दी के दो सर्वश्रेष्ठ सूफ़ी कवि हैं। वैसे कबीर को निर्गुण मत के अन्तर्गत बताया जाता है और उनकी भाव-धारा को सन्त-भावधारा कहा जाता है। परन्तु कबीर शेख़ तकी के शिष्य थे। यह प्रसिद्ध बात है। शेख़ तकी अपने समय के प्रसिद्ध सूफ़ी थे और अब भी जौनपुर में उनकी समाधि बनी हुई है। कबीर की रचनाओं में सूफ़ी विचारधारा भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। जायसी तो प्रसिद्ध सूफ़ी हैं ही। उनका पद्मावत (१५४५ ई०) हिन्दी सूफ़ी काव्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

सातवीं-आठवीं शताब्दी में जब इस्लाम पूर्णरूप से व्यवस्थित नहीं हुआ था, अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे। क़ुरान, हदीस, ईमान, कर्म, भाग्य, न्याय, रसूल लगभग सभी विषयों पर वाद-विवाद चल पड़े थे। अलग-अलग मत गढ़े जा रहे थे। अन्त में ख़लीफ़ा उस्मान के समय (६४४–५६ ई०) में क़ुरान को निश्चित रूप प्राप्त हो गया और उसमें कुछ भी परिवर्तन करना असम्भव हो गया। ख़लीफ़ाओं ने अनेक मतवादों के प्रति असहिष्णुता दिखलाने की चेष्टा की। अतः नये सम्प्रदाय क़ुरान की मान्यता से आगे नहीं बढ़ सकते थे। अब शब्द-शक्ति पर अधिक ध्यान देकर अभिधा के स्थान में लक्षणा से सहारा लिया गया। मोतज़िला सम्प्रदाय ने पहले-पहल

.क़ुरान की नई व्याख्या की। चाहे इस संप्रदाय ने किसी विशिष्ट दर्शन या मतवाद को जन्म नहीं दिया, परन्तु इसने इस्लामी चिंता को झकझोर दिया, इसमें सन्देह नहीं। मुर्जी, खारिज़ी, क़ादिरी आदि कई दल उठ खड़े हुए। ७वीं-८वीं शताब्दी के सबसे महत्वपूर्ण सूफ़ी सन्त इब्राहीम और दाऊदताई हैं। इनमें अनुराग (प्रेमभाव) की अपेक्षा विराग ही अधिक था, परन्तु लौकिक प्रेम (इश्के हक़ीक़ी) को पारलौकिक प्रेम (इश्के मज़ाजी) का प्रतीक मान कर चलने की चाल पड़ गई थी। वास्तव में उस समय सारे पूर्व में निर्गुणवाद की धारा बह रही थी। नवीं शताब्दी के मध्य में भारत के शङ्कराचार्य और बसरा के अलअल्लाफ़ ईश्वर को अद्वैत और निर्गुण मानते हैं, उसे निर्विशेष कहते हैं। नज़्ज़ाम (मृ० ८४५ ई०), जहीज़ (८६९ ई०), मुअम्मर (९०० ई०) और वरुडी (९३३ ई०) ने मोतज़िलियों की चिंता-परम्परा आगे बढ़ाई। मोतज़िलियों की दार्शनिक स्वतंत्रता के विरुद्ध इसी समय करायी और अशअरी सम्प्रदाय भी उठ खड़े हुए।

सबसे पहले सूफ़ी की उपाधि अबू-हाशिम (७७० ई० के लगभग मृत्यु प्राप्त) को मिली। इसके बाद राबिया (मृ० ७५८ ई०) और उसकी सहेलियाँ और मंसूर (मृ० ७८४ ई०) आते हैं। इस समय मुलतान तसव्वुफ़ (सूफ़ी मत) का केन्द्र बन गया था। अनेक बौद्ध इस्लाम धर्म क़बूल कर चुके थे। वीर कौलों (तांत्रिक बौद्धों) का भी प्रभाव पड़ रहा था। पश्चिम के मसीही भक्तिभाव से भी इस्लामी अछूते नहीं रह सके। मंसूर का गुरु जुनेद (मृ० ९०९ ई०) था। वह बाहर से कट्टर मुसलमान बना रहता था, परन्तु भीतर-भीतर गुह्य-ज्ञान (मादन-भाव) का प्रचार करता था। परन्तु मंसूर (हल्लाज) शतशः प्रेमी-जीव था। इसी से शरिअत के उपासक उसके प्राणों के ग्राहक हो गये। हल्लाज (मृ० ९२१ ई०) को अनेक यातनाएँ झेलनी पड़ीं। 'अनलहक्क' कह कर उसने ब्रह्मवाद के "तत्त्वमसि" की बात दुहराई।

'अहं ब्रह्मास्मि' की प्रेरणा उसे अवश्य भारत से मिली होगी। वह कहता है—

"मैं वही हूँ जिसको प्यार करता हूँ; जिसे प्यार करता हूँ वह मैं ही हूँ। हम एक ही शरीर में दो प्राण हैं। यदि तू मुझे देखता है तो उसे देखता है। और यदि उसे देखता है तो हम दोनों को देखता है।" सूफ़ियों के अनेक सिद्धांत मंसूर (हल्लाज) से ही आरम्भ होते हैं। उसी ने अनेक सूफ़ी धार्मिक साधनाओं की व्यवस्था की।

इसके बाद फ़राबी (मृ ९५०), अबूसईद (१०१९) और इमाम गज़ाली (मृ० ११११) का नाम आता है। फ़राबी ने क़ुरान एवं दर्शन का समन्वय कर सूफ़ी मत का मार्ग स्वच्छ किया। सईद ने 'समा' (समाधि) की व्यवस्था की। वह कहता था कि समा विषय-बासना के नाश के लिए उपयुक्त साधन है। सईद अत्यंत ऊँची श्रेणी के साधक थे और उनकी साधना और उनके व्यक्तित्व ने सूफ़ी मत को अत्यंत लोकप्रिय बना दिया। परंतु कट्टर इस्लामी अब भी सूफ़ी मत को इस्लाम धर्म के विरुद्ध मानते थे। सूफ़ी भले ही अपने मत को इस्लाम-प्रतिपादित अथवा मुहम्मद साहब की थाती कहें, काज़ी और मुल्ला उन्हें 'ज़िदीक' (नास्तिक) कह कर फतवा दे सकते थे। वास्तव में इस्लाम और सूफ़ी मत का संघर्ष अरब और ईरान एवं आर्य और शामी संस्कृतियों का संघर्ष था। सूफ़ियों की लोकप्रियता बढ़ रही थी। अनेक ख़ानकाह बन चुके थे और 'नबी' की भाँति सूफ़ी भी पूजे जाने लगे थे। ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो इस्लाम और सूफ़ी मत के इस विद्रोह को मिटा दे। इस्लाम और सूफ़ी मत का समन्वय इमाम गज़्ज़ाली ने किया। उसके प्रयत्न से तसव्वुफ़ इस्लामी दर्शन बन गया। शामी मतवाद में प्रेम के संयोग-वियोग पक्षों का समावेश हो

गया। गज़्ज़ाली ने धर्म, दर्शन, समाज और भक्ति-भावना का समन्वय किया। इससे इस्लाम को पुष्टि मिली। गज़्ज़ाली के काम को जिली, अरबी और रूमी जैसे महान् सूफ़ियों और कवियों ने आगे बढ़ाया। अन्य प्रसिद्ध सूफ़ी फ़राबी (मामूरशीद के समय ई० सन् ८३० के लगभग), जुलनून (मृ० ८५७ ई०) और मजीद (मृ० ८७४) हैं। वास्तव में राबिया और मंसूर के समय से गज़्ज़ाली के समय तक चार सौ वर्ष तक इस्लाम के भीतर ही सूफ़ीमत का विकास होता रहा।

यह निश्चित है कि मुसलमान सूफ़ी साधक ७१३ ई० के लगभग ही मुलतान पहुँच गये थे। लगभग तीन शताब्दियों तक पंजाब और सिन्ध सूफ़ियों के केन्द्र बने रहे और सूफ़ीमत के निर्माण में इन प्रदेशों का विशेष महत्व रहा। यहीं वेदान्त, गोरखनाथी हठयोग, हीनयानी बौद्ध (सिद्ध) मत और इस्लामी सूफ़ी मत में परस्पर विचारों का विनिमय हुआ। धीरे-धीरे ये सूफ़ी साधक सारे भारतवर्ष में फैल गये। यह सारा युग भक्ति के उत्थान का युग था। अतः भक्तिपरक इस्लामी सूफ़ी साधना का जनता ने कभी विरोध नहीं किया। ये सूफ़ी साधक स्वयं भारतीय साधना के प्रति सहिष्णु थे। वेश-भूषा में सिद्धों, जोगियों, दण्डी-वैरागियों और इन मलिंगों (सूफ़ी साधकों) में कोई विशेष अन्तर नहीं था। मसूदी (१०४५–११२१ ई०), मुईउद्दीन चिश्ती (११४२ ई०), कुतुबुद्दीन काकी, फ़रीद शकरगंज (११७३–१२६५), शेख़ चिश्ती (१२६१ ई०), निज़ामुद्दीन औलिया (१२३५ ई०), शरफुद्दीन अहिया मुनीरी (१२६३–१३८०) और बुरहानुद्दीन ग़रीब (मृ० १३३७) इस युग के महत्वपूर्ण सूफ़ी साधक हैं। १००० ई० के बाद हिन्दी प्रदेश इस सूफ़ी साधकों से परिचित होने लगा था, यद्यपि इनके मुख्य क्षेत्र सिन्ध, पंजाब, दिल्ली, मुलतान और अजमेर थे। इन सूफ़ी साधकों ने हिन्दवी नाम की एक मिली-जुली भाषा में

अपनी विचारधारा का प्रचार किया। धीरे-धीरे इनकी शिष्य परंपरा बढ़ी और ये सारे उत्तरी भारत और दक्षिण भारत में फैल गये। भारत में आने से पहले सूफ़ियों का अपना एक साहित्य चल पड़ा था। वह बराबर बनता रहा। मुसलमानों के शासन-काल में ईरानी सस्कृति और साहित्य भारत में बराबर आते रहे। इस प्रकार यह साधक फ़ारसी सूफ़ियों की सद्यः विकसित भावनाओं से बराबर परिचित होते रहे। परन्तु भारतीय धार्मिक वातावरण, दार्शनिक चिन्तन और साहित्य का भी इन पर प्रभाव पड़ा।

हिन्दी सूफ़ी काव्य दो भाषाओं में हमारे सामने आता है। हिन्दवी (प्राचीन खड़ी बोली) और अवधी ये दो भाषाएँ हैं। हिन्दवी काव्य महमूद ग़ज़नवी की विजयों के बाद शुरू होता है। डा० मोहनसिंह के अनुसार इसका समय १०३६ ई०—१५८० ई० है। शुरू-शुरू में सूफ़ी साधक सिंध और पंजाब में आकर बसे थे। यह वह समय था जब भक्ति का आविर्भाव हो चुका था और वह धीरे-धीरे एक जन-आन्दोलन का रूप धारण कर रही थी। सूफ़ियों की प्रेम-मूलक धारणा भक्ति से मेल खाती थी, अतः वह जन-समाज में अपनी साधना के बल से पैठ गये। अनेक हिंदू उन पर आस्था रखने लगे। खड़ी बोली में सूफ़ी साहित्य फुटकर दोहों, पदों और गज़लो आदि के रूप में सामने आया। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में इस प्रकार की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हुईं। पूर्वी हिन्दी प्रदेश में अवधी के माध्यम द्वारा यह प्रकाश में आई। दोनों भाषाओं में "मसनवी" (कथात्मक) साहित्य की रचना हुई। परन्तु खड़ी बोली की मसनवियाँ "दकनी" (फ़ारसी और ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी) में है और उनपर भारतीय कथापद्धति और काव्य का उतना प्रभाव नहीं है जितना पूर्वी साधकों की अवधी कथाओं में जान पड़ता है। जो कथायें

इन साधकों ने पद-बद्ध कीं, वे मौलिक रूप से भारतीय थीं और जनसाधारण में लोक कथाओं के रूप में चली आ रही थीं। उन्होंने उनके प्रभाव को समझ कर उन्हें अपने भावों के प्रचार का साधन बनाया होगा। दकनी के सूफ़ी काव्य में हमें उसी 'प्रेम की पीर' के दर्शन होते हैं जो जायसी आदि हिन्दी सूफ़ियों में मिलती है। यह सूफ़ी काव्य विशेषतयः मसनवियों (प्रेम कहानियां) के रूप में मिलता है। मसनवियों में लौकिक प्रेम की कहानी को पारमार्थिक प्रेम के रूपक के रूप में ग्रहण किया गया है। 'जायसी' आदि अवधी कवियों का काव्य भी 'हिन्दी मसनवियाँ' ही हैं। इस दृष्टि से इस प्रारम्भिक मसनवियों का अध्ययन थोड़ा-बहुत महत्व रखता है।

अवधी में सबसे पहला सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य मुल्ला दाऊद की नूरक और चन्दा की प्रेम कथा है। इसका रचनाकाल १३१८ ई० है। इसके बाद और भी कई प्रेम-कथायें लिखी गईं परन्तु उनमें से सब उपलब्ध नहीं हैं। जायसी ने पद्मावत में सपनावती, मुगधावती, मृगावती, खंडावती, मधुमालती और प्रेमावती का उल्लेख किया है। इनमें से केवल दो मृगावती और मधुमालती प्राप्त हो सकी हैं। मृगावती के लेखक कुतबन हैं। मधुमालती के मंझन। कुतबन का समय १२६३ ई० है। मंझन के समय के विषय में कुछ पता नहीं चलता। इसके बाद मलिक मोहम्मद जायसी का पद्मावत आता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि सूफ़ी रूपकात्मक प्रेमकथाओं की परंपरा जायसी से बहुत पहले चल पड़ी थी। जायसी की लोकप्रियता ने इस परंपरा को प्रोत्साहन दिया। उनके बाद कई प्रेमाख्यान लिखे गये और यह परंपरा उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक चली। पद्मावत के बाद उसमान ने 'चित्रावली' (१६१३ ई०) लिखी। १६१६ ई० में शेख़नबी ने ज्ञानदीपक लिखा। १७३१ ई० में कासिमशाह ने 'हंस जवाहर', १७४४ ई० में नरमहम्मद ने 'इंद्रावती' और १८४८ ई० में फाज़िल-

शाह ने 'प्रेमरतन' की रचना की। दो अन्य प्रसिद्ध सूफ़ी काव्य माधवानल कामकदला (आलम, १६०५ ई०) और यूसुफ जुलैखा (निसार १८१६ ई०) हैं। इन सब अवधी प्रेम कथाओं में बहुत साम्य है। सब दोहा-चौपाइयों में लिखी गई हैं। सब में मसनवियों की शैली अपनाई गई है—ईश्वर-बन्दना, मोहम्मद साहब की स्तुति, शाहवक्त का वर्णन इत्यादि। सब की भाषा अवधी है। सब में सूफ़ी भावना अंतर्हित है। फ़ारसी प्रेम कथाओं में पहले पुरुष की स्त्री पर आसक्ति दिखलाई जाती है। इतना विदेशीपन होने पर भी षट्ऋतु-वर्णन, बारहमासा, नगर वर्णन, स्त्री सौंदर्यवर्णन आदि अनेक बातों और रस्म-रिवाज़ों में भारतीय परंपरा का अनुसरण किया गया है। ये मुसलमान साधक कवि जीवात्मा के विरह का बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित कर सके हैं। सारा काव्य प्रेम की तन्मयता से व्याप्त है। इन प्रेम साधकों ने कथा को ही साधना बना लिया है।

इन सूफ़ी कवियों ने जिन कथाओं का आश्रय लिया, वे कथाएं पूर्णतयः भारतीय हैं। उसके नायक-नायिका ही भारतीय नहीं हैं, उनके जीवन की अनेक परिस्थितियाँ भी भारतीय हैं। उनके नायक-नायिकाओं के कार्यों का आधार भारतीय (हिन्दू) विश्वास हैं। यदि कथा पर से विदेशी धार्मिक सिद्धान्त (सूफ़ी मत) का आवरण हटा लिया जाय, उसे केवल प्रेम-कथा काव्य के रूप में देखा जाय, तो हिन्दू जीवन की इतनी अधिक परिस्थितियाँ तुलसी को छोड़ कर और कहीं नहीं मिलेंगी। जायसी को ही लीजिये। नैहर में लड़की की स्वतंत्र चहल-पहल, ससुराल का चिन्तन, पुत्री के विदा के समय की परिस्थिति, प्रेम और वियोग में भारतीय ललना की मनोवृत्ति, आस्तिक विश्वास, बलिदान, युद्धों में वीरों की मनः-स्थिति—अनेक प्रसंग ऐसे हैं जो पूर्णतः इसी देश के हैं। उन सबके लिए सूफ़ी कवि हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। हिन्दू संस्कृति का विजातीय लेखनी से

इतने सुन्दर रूप में चित्रित होना तो आश्चर्य की बात है ही, परन्तु इतनी सहृदयता पा जाना तो हमें और भी चकित कर देता है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि सूफ़ी काव्य उन हिन्दुओं द्वारा रचा गया है जो मुसलमान धर्म में अभी ही आये थे। दूसरे, सूफ़ी धर्म अन्य धर्मों के प्रति अत्यन्त सहिष्णु है। तीसरे जिन कथाओं में आध्यात्मिक अर्थ सिद्ध किये गये, वे जिस रूप में जनता में प्रचलित थीं, उसे तोड़ना-मरोड़ना अनुपादेय होता। वास्तव में सूफ़ी काव्य के पीछे न धर्मप्रचार की भावना है, न काव्य प्रतिभा-प्रदर्शन की। कवियों ने प्रचलित मसनवी शैली पर आत्मानुभूति व्यक्त करने की चेष्टा की है। कथा के विस्तार और उसके स्वतः सौन्दर्य ने उनकी अनुभूति को ढाँप दिया है परन्तु प्रेम-विरह के अवसरों पर वह अनावृत भी हो गई हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफ़ी काव्य का प्रकृत रूप भारतीय है। उसकी प्रेमपद्धति हमारे काव्यशास्त्रों से कुछ हट कर चलती है परन्तु इसका कारण केवल यही है कि उस पर आध्यात्मिक अर्थ का आरोप है। प्रेमी की कठिनाइयों के जैसे अतिरंजित चित्र वहाँ हैं वे हमारी काव्य परम्परा की सम्पत्ति नहीं। फ़ारसी के सूफ़ी काव्य में प्रेमोत्कर्ष और प्रेमपंथ की कठिनाइयाँ दिखाने के लिये इस प्रकार के चित्रों की योजना की जाती थी। वास्तव में सूफ़ी काव्य में भारतीय और विदेशी साधनाओं एवं काव्य-परम्पराओं का आश्चयजनक सम्मिश्रण है। हम उसे सन्धि-काव्य कह सकते हैं। परिवर्ती सूफ़ी कवियों में महत्वपूर्ण हैं यारी साहब (१६६८--१७२३), केशवदास, बुल्ला साहब (१७३० ई० के लगभग), बुल्लेशाह (१८वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में), गुलाल साहब और भीखा साहब (१८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में), नूर मुहम्मद (इंद्रावती, १७४३) और मोतीराम (जन्म १६८३, ब्रजभाषा में माधवानल)।

अवधी सूफ़ी कवियों में सबसे महत्वपूर्ण जायसी हैं और वही सूफ़ी काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं। पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम उनके तीन ग्रन्थ हैं, परन्तु पद्मावत ही उनकी कीर्ति का आधार है। 'पद्मावत' की कहानी का मूलाधार ऐतिहासिक है, परन्तु जायसी ने इतिहास को दृष्टि में रखकर कथावस्तु का विस्तार नहीं किया। उन्होंने मसनवियों के अनुरूप इस विशेष कथा को साधना का आधार मात्र बनाया है। लोक कथा को लेकर उसके लौकिक प्रेमपक्ष पर अलौकिक भावनाओं का आरोप करने की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही सूफ़ी मसनवियों में पाई जाती है और जायसी मूल रूप से इसी परम्परा से प्रभावित थे। पद्मावत की ऐतिहासिक घटना उसके उत्तरार्द्ध में वर्णित है। अलाउद्दीन किस प्रकार पद्मावती पर मुग्ध हुआ, कैसे उसने चित्तौड़ पर आक्रमण किया, कैसे अन्त में क्षार-मात्र उसके हाथ लगी। इस सब कथा का सम्बन्ध १३०३ ई० के चित्तौड़ के आक्रमण से है। कुछ ही दिनों बाद पद्मिनी की कथा सारे देश में प्रसिद्ध हो गई। लोक-कथा के रूप में व्यापक रूप में उसका प्रचार हुआ और साहित्य में भी उसे आधार बनाया गया। संस्कृत और हिन्दी दोनों में पद्मावती पर काव्य लिखे गये हैं, यह कथा की लोकप्रियता का प्रमाण है।

'पद्मावत' का सबसे उत्कृष्ट अंश 'नागमती का विरह वर्णन' है। नागमती रतनसेन की पत्नी है जो रूपगर्विता है। हीरामन तोते से पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की बात सुनकर राजा रतनसेन नागमती को छोड़ कर साधु के भेष में चित्तौड़ से निकल जाता है। नागमती उसके विरह में व्याकुल हो जाती है। नागमती के विरह में जो तीव्र वेदना है, जो तीव्र उत्कण्ठा है, वह उसे साधारण लौकिक प्रेम से उठा कर असाधारण आध्यात्मिक प्रेम बना देती है। इस प्रेम में वासना की

एक हो जाते हैं, मनुष्य की आत्मचेतना विश्वचेतना के आलिंगन में बँध जाती है। अल्लाह से बन्दा दूर है, परन्तु इस दूरी से क्या होता है—

बसै मीन जल धरती, अंबा बसै अकास।
जो पिरीत पै दुवौ मँह, अंत होहिं एक पास॥

सारे पद्मावत में इसी अलौकिक प्रेम तत्त्व की व्याख्या की गई है। वह अलौकिक प्रेमतत्त्व इस सारी सृष्टि में समाया हुआ है। सृष्टि का सारा बहुविधि विलास, प्रकृति का सारा वैभव उसी एक ज्योति का अनेकानेक विलास है—

बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ, मानिक मोती॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी।
तहँ तहँ छिटकि जोति पर गसी॥
नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर॥

स्वर्ग-पृथ्वी, मृत्य-अमृत्य, जड़-चेतन जहाँ भी, जो भी है, वह प्रेम के बाणों से बिंध गया है और प्रियतम से मिले बिना उसका निस्तार नहीं। जायसी कहते हैं—

उन बानन्ह अस को जो न मारा? बेधि रहा सगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने। पै सब बान ओहि कै हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढ़े॥

वरुनि-चाप अस ओंपह बीधे रन बन ढाँख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखहि तन सब पाँख ॥

उन बाणों ने किसे नहीं मारा ? सारा संसार तो उनसे बिंधा हुआ है। आकाश के ये इतने नक्षत्र जो गिनने में नहीं आते, उसी के बाणों से बिंधे हैं। यह सारी पृथ्वी उसके बाणों ने बेध रखी है। दूर्वादल-लता-वृक्ष इसके साक्षी हैं। मनुष्य के बदन में रोम के रूप में यह उसके बाण ही तो छिदे खड़े हैं। पलकों की तरह तीक्ष्ण तीर जिससे निकलते हैं ऐसा धनुष उसके पास है। बन के ढाक के पेड़ उसने उन तीरों से वेध दिये हैं। वही तीर मनुष्य के शरीर में रोम बन कर चुभे हैं, वही पक्षी के पंख बने। पृथ्वी से स्वर्ग का वियोग जीव-ब्रह्म के महावियोग का प्रतीक है। ब्रह्म से अलग होकर जीव और प्रकृति को जो महान् दुख हो रहा है, जिसके कारण रोम-रोम, कण-कण क्रन्दनशील है। प्रकृति के सारे तत्त्व उस 'महामिलन' के लिए तपस्या कर रहे हैं जिसमें वह विराट से एकाकार हो जायेंगे। जायसी कहते हैं—

धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार कै दीन्ह बिछोहू ॥
सूरज बूड़ि उन होइ ताता। औ मजीठ टेसू बनराता ॥
भा बसंत, राती बनसपती। औ राते सब जोगी जती ॥
भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू। औ राते सब पंखि पखेरू ॥
राती सती, अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया ॥
धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र, भएउ दुइ आधा ॥
चाँद सुरुज औ' नखत-तराई। तेहि उर अँतरिख फिरहिं सजाई।
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लौटि मुँह रहा ॥

अगिनि उठी, जरि बुझी निशाना।
धुँआ उठा, उठि बीचि बिलाना ॥

पानि उठा, उठि जाइ न छूआ।
बहुरा रोइ, आइ मुँइ चूआ॥

पृथ्वी और स्वर्ग दोनों आदि में मिले हुए थे। किसने अलग करके दोनों का विछोह कर दिया। इस वियोग के कारण ही सूर्य तप कर अंत में डूब जाता है। टेसू का बन रात में जैसे दावाग्नि में जल उठता है। बसंत में सारी बनसपतियाँ लाल-लाल हो जाती हैं। सारे योगी-यती उसके अनुराग में रंगे हैं। उसके अनुराग के जल में भीग कर पृथ्वी लाल हो गई, पक्षी लाल हो गये, सतियो ने अपने शरीर अग्नि में होम दिये और आकाश के मेघ रक्तवर्ण हो जल उठे। इसके बाद जायसी भावुक रहस्यदर्शी की भाँति प्रकृति की वियोग-साधना का बड़ा सुन्दर वर्णन करते हैं और उसे जीव-ब्रह्म-एक्य का प्रतीक बनाते हैं। इस महामिलन में जीव की अनन्य विरह स्थिति का लोप हो जाता है। वह अद्वैत स्थिति को प्राप्त हो जाता है। पद्मावती और नागमती के रतनसेन से मिलने में जीव-ब्रह्म के महामिलन का रूपक खड़ा किया गया है। पद्मावती अपनी सखियों से कहती है—

आजु मरम मैं जानिउँ सोई। जस पियार पिउ और न कोई
हिये छाँह उपना ओ' सीऊ। पिउ न रिसाउ नेउ बस जीऊ
करि सिङ्गार तापहँ का जाऊँ। ओहा देखहुँ ठावहि ठाऊँ
जौ जिउ महँ तो उहै पियारा। तन मनु सौं नहिं होइ निनारा

यहाँ कथा रतनसेन-पद्मावति की लौकिक कथा नहीं रह जाती। वह कथा से और बड़े अर्थ प्रगट करने लगती है। यह नये अर्थ ही जायसी की कथा के प्राण हैं। कथा के अंत में जायसी ने उस पर स्पष्ट रूप से रूपक का आरोप किया है और उसे लौकिक स्तर से ऊपर उठाकर अलौकिक और आध्यात्मिक बना दिया है। परन्तु स्वयं कथा के बीच-बीच में जो अनेक आध्यात्मिक संकेत हैं, वह इस रूपक से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं।

सच तो यह है कि जायसी की प्रेरणा मूल रूप से आध्यात्मिक होने पर भी उसमें जन-मन-रंजन के अनेक गुण हैं और वह एक ही साथ मृत्य और अमृत्य, पृथ्वी और स्वर्ग को छूती है, उसका कथा-पक्ष लोक-रंजन की समस्त प्रवृत्तियों से पुष्ट है। उसका अध्यात्म पक्ष एक ही साथ वेदांत, योग और सूफ़ी मतवादों को स्पर्श करता है। मध्ययुग में दर्शन, धर्म, काव्य और लोकरंजन के बीच की भित्तियाँ गिर गई थीं। जो लोक-रंजन था, वही काव्य का उच्चातिं-उच्च उन्मेष बन गया और उसी में धर्म और दर्शन के बड़े-बड़े तत्त्व, बड़े-बड़े सिद्धांत समाविष्ट हुये। रामचरितमानस, सूरसागर और पद्मावत इस दर्शन-धर्म-काव्य-लोकरंजन के तोन सुन्दर योगायोग हैं।

जायसी के सम्बन्ध में जो कहा गया है, वही थोड़ा-बहुत अन्य सूफ़ी कवियों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। सभी कवि मुसलमान थे और सभी फ़ारसी की मसनवी शैली से प्रभावित। सब ने अवधी भाषा में ही अपना सन्देश जनता तक पहुँचाया और लोक-जीवन में चलती हुई प्रेम-कथाओं को इस सन्देश का माध्यम बनाया। यह दूसरो बात है कि सबका काव्य उतनी प्रौढ़ता प्राप्त नहीं करता जितनो जायसी के काव्य ने प्राप्त की, न उसे उतनी लोकप्रियता ही मिली। यद्यपि सब कवि मूलतः सूफ़ी अध्यात्म-भावना से प्रभावित थे, परन्तु कथा में शिव, पार्वती, नारद और योगी अवश्य ही आते हैं और नायक विरक्त जोगी के रूप में ही सामने उपस्थित किया जाता है। यही नहीं, पूर्ववर्ती सूफ़ी ग्रन्थों का प्रभाव परिवर्ती सूफ़ी ग्रन्थों पर अनेक प्रकार से पड़ा है। चित्रावली सरोवर के गहरे जल में छिप जाती है। सखियाँ उसे ढूँढ़ती हैं। यहाँ चित्रावली ईश्वर का प्रतीक है और यह खोज साधारण खोज नहीं है—

सरवर ढूँढ़ि सबै पचि रहीं। चित्रिनि खोज न पावा कहीं॥

निकसी तीर भईं बैरागी । धरे ध्यान सब बिनवै लागीं ॥
गुपुत तोहि पापहिं का जानी । परगट मह जो रहै छपानी ॥
चतुरानन पढ़ि चारौ वेदू । रहा खोजि पै पाव न भेदू ॥
हम अंधी जेहि आपन सूझा । भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा ॥
कौन सो ठाँउ जहाँ तुम नाहीं । हम चख जोति न देखहि काहीं ॥

पावै खोज तुम्हार सो, जेहि दिखरावहु पंथ ।
कहा होइ जोगी भए, औ बहु पढ़े गरंथ ॥

जायसी के 'पद्मावत' का प्रभाव स्पष्ट है। जायसी के पद्मावत में पद्मावती का हार सरोवर में खो गया था और कवि ने उसके सम्बन्ध में इसी तरह रहस्यमय उक्तियाँ कहीं थीं। विरह वर्णन में तो यह प्रभाव और भी स्पष्ट हो जाता है। जायसी का नागमती का विरह वर्णन पद्मावत का सबसे उत्कृष्ट ग्रन्थ है। वह लगभग स्वतंत्र काव्य है और उसकी प्रसिद्धि अवध के कोने-कोने में हो गई थी। जो मार्मिकता, जो पर-व्यंजना, जो अनुभूतिपूर्ण काव्योपमेयता नागमती के विरह-वर्णन में है वह सूर के विरह काव्य को छोड़ कर और कहाँ मिलेगी। परिवर्ती सूफ़ी काव्य पर उसका प्रभाव पड़ना आश्चर्य की बात नहीं। 'चित्रावली' का कवि लिखता है—

ऋतु बसंत नौतन बन फूला । जहँ तहँ भौंर कुसुम-रंग भूला ॥
आहि कहाँ सो भँवर हमारा । जेहि बिनु बसंत बसन्त उजारा ॥
रात बरनपुनि देखि न जाई । मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई ॥
रतिपति-दुरद ऋतुपती बली । कानन-देह आइ दलमली ॥

अन्य परिवर्ती काव्यों पर यह प्रभाव और भी अधिक है।

परन्तु कालान्तर में व्यापक प्रेम-भावना के प्रसार की बात दबती गई और सूफ़ियों ने इस्लामी प्रचारकों से अपना नाता जोड़ लिया। जायसी में इस्लामी मतवाद और इस्लाम धर्म का आग्रह अधिक नहीं

है, परन्तु 'अनुराग बाँसुरी' (१७६४ ई०) में कवि स्पष्ट रूप से मूर्ति-वाद की निन्दा करता है—

यह बाँसुरी सुनै जो कोई। हिरदय-स्रोत खुला जेहि होई॥
निसरत नाद बारुनी साथा। सुनि सुधि-चेत रहै केहि हाथा॥
सुनतै जो यह सबद मनोहर। होत अचेत कृष्ण मुरलीधर॥
यह मुहम्मदी जन की बोली। जायैं कंद न बातैं घोलीं॥
बहुत देवता को चित हरै। बहु मूरति औंधी होइ परै॥
बहुत देवहरा ढाहि गिरावै। संखनाद की रीति मिटावै॥
जहँ इस्लामी मुख सों निसरी बात।
तहाँ सकल सुख मंगल, कष्ट नसात॥

इस कट्टरता के समावेश से अध्यात्म और काव्य-रस की हानि आवश्यक बात थी। फलतः परिवर्ती सूफ़ी काव्य हमें उतना नहीं छूता जितना जायसी का काव्य।

७

रीति-काव्य

रीति-काव्य के नाम से हिन्दी-काव्य की वह साहित्यिक धारा प्रसिद्ध है जिसके अग्रगण्य कवि केशवदास, विहारी और देव हैं। जैसा कि विद्वानों ने कहा है, यह नाम उस काव्य के लिए पूर्णतः उपयुक्त नहीं है जो केशव के समय से बनना शुरू हुआ और जिसकी धारा अविच्छिन्न रूप से आधुनिक-काल (१८५०) तक चलती रही। परन्तु उपयुक्त न होने पर भी नाम चल पड़ा है, और इसलिये उसका प्रयोग करना आवश्यक होता है। कुछ अन्य नामों की ओर भी सुझाव हुआ है जैसे कला-प्रधान-काव्य, शृङ्गार-मूलक-काव्य, परंतु कला-शृङ्गार और रीति-ग्रन्थों का अनुकरण रीतिकाल या उत्तर-मध्ययुग के काव्य (१६००—१८५०) की कविता की केवल कुछ रूढ़ियाँ थीं। अन्य रूढ़ियाँ और विशेषताएँ भी इतनी ही महत्व-पूर्ण हैं।

रीतिकाव्य की मूल-भावना शृङ्गार है। पुरुष-स्त्री के प्रकृत प्रेम का वर्णन, उनके यौवन-विकास, केलि-विलास, हास-परिहास, संयोग-वियोग इस काव्य के विषय हैं। हम देखते हैं शृङ्गार की भावना ने हिन्दी के प्रारंभिक काल में ही हमारे साहित्य में प्रवेश कर लिया था। इस भावना को हम राजपूत चारणों की वीर-कथाओं के केन्द्र में उपस्थित पाते हैं। रासो के इतने सभी युद्धों का कारण स्त्री का सौन्दर्य है, आल्हा-ऊदल की लड़ाइयों में वीररस पूर्वराग से ही परिचालित है, समाप्ति भी परिचय ग्रन्थि में होती है। नरपति

नाल्ह का वीसलदेव रासो तो नाम-मात्र को वीर-काव्य है। उसमें नग्न प्रेम के वर्णन और राजमती के वियोग-चित्रण के सिवा कवि का क्या उद्देश्य हो सकता है ? उसे भी वीर-कथा काव्य मानने की परिपाटी भर पड़ गई है जो इतिहास में चली आ रही है। इसी प्रकार हम सिद्ध कवियों की साधनाओं के पीछे रति-भाव का विकृत रूप पाते हैं। इन्द्रिय-जन्य-विकारों को साधना का मार्ग बनाया जा रहा है।

जयदेव के काव्य गीतगोविन्दम् में पहली बार कृष्ण और श्रृङ्गार का पूर्ण संयोग होता है, साथ ही मधुर-भाव की भक्ति का जन्म होता है। उन्होंने कहा—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासु कलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमलकांत पदावली श्रृणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ॥

यहाँ स्पष्ट ही कवि के तीन उद्देश्य हैं—

१—हरिस्मरण।

२—विलास-कला-कुतूहल।

३—श्रुति-मधुर-काव्य (कोमलकान्त पदावली)। जयदेव ने अपने प्रबन्ध के सम्बन्ध में लिखा है—श्री वासुदेव रतिकेलि कथा समेतकेतं करोति जयदेव कविः प्रबन्धम्। जयदेव ने अपने प्रबन्ध-काव्य के मंगलाचरण श्लोक को ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के राधा-कृष्ण के प्रथम दर्शन की कथा पर खड़ा किया है—

मेघै मेदुरमम्बरं बनभुवः श्यामास्तभाल द्रुभनैक्त भीरुहयं
त्वमेव तदियं राधे गृहं प्रापय। इत्यं नन्दनिदेश तश्चलितयोः
प्रत्युध्वकुञ्ज द्रुम राधा-माधव योजयंति यमुनाकूले रहः केलयः ॥

यहाँ जयदेव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ये माधव (कृष्ण) परम-पुरुष ही हैं और दश अवतार इन्हीं के अवतार हैं—'दशाकृति कृत

कृष्णाय तुभ्य नमः।' 'केशवधृत दशविध रूप जय जगदीश हरे।' यह स्पष्ट है कि गीत-गोविन्दम् की रचना तक कृष्ण परब्रह्म दशावतारी मूल पुरुष हो गये थे। भागवत में उनका गोपियों (जीवात्माओं) से केलि-विलास रूपक-रूप में वर्णित था। ब्रह्मवैवर्त पुराण में मूल प्रकृति राधा ने गोपियों का स्थान ले लिया। जयदेव ने इस अवतारी-भाव के साथ काम-कलाविद् राधा-कृष्ण का भाव भी गुम्फित कर दिया। उन्होंने राधा-कृष्ण के मान, दूती, अभिसार और निकुञ्ज-केलि एवं रास की विस्तृत चित्रपटी तैयार की। जयदेव की कविता का प्रभाव विद्यापति पर पड़ा। उनके कृष्णकाव्य का आधार ही रस-शास्त्र है। यदि विद्यापति के कृष्ण-काव्य से राधा-कृष्ण के नाम हटा लिये जायें तो कुछ थोड़े से पदों को छोड़कर उनके सारे साहित्य से अध्यात्म का आवरण उतर जाता है। यही बात सूफ़ी कवियों के सम्बन्ध में भी पूर्णतयः चरितार्थ है। कृष्णकाव्य के इतर कवियों की मनोवृत्ति के विषय में तो कोई सन्देह नहीं। मधुर भक्ति में लौकिक प्रेम को ही ईश्वरोन्मुख किया जा रहा है। नन्ददास और रसखान इसके उदाहरण हैं। आगे चलकर मुग़लकालीन विलासिता का प्रभाव भी कृष्ण-काव्य पर चढ़ा और वह एकदम लोक-जीवन की भित्ति पर उतर आया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के आदि काल से शृङ्गार रस का निरूपण होता चला आ रहा है। परन्तु उस पर वीरता और अध्यात्म का आवरण है। धारा प्रच्छन्न रूप से चल रही है। बाद को अपने युग की विलासिता और संस्कृत के उत्तरकालीन काव्यों और आचार्यों के प्रभाव के कारण जल ऊपर आ गया है और धारा साफ़ दिखलाई देती है। १६वीं शताब्दी के ५० वर्ष बीतते-बीतते उसने केशवदास जैसे कवि को जन्म दे दिया है। अब उसके अस्तित्व में संदेह ही नहीं रहा।

शृङ्गार-रस (रीति) की रचनाओं का एक दूसरा पहलू भी है। इन रचनाओं का सूत्रपात अधिकतर संस्कृत रीति-आचार्यों के रस, अलंकार, या ध्वनि-सम्बन्धी सूत्रों को पकड़ कर हुआ है अथवा इस युग के कवियों को एक विशेष प्रेरणा यह भी रही है कि वे रीति-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ लिखें और उदाहरण में अपने ही पद (कवित्त-सवैये) रचें। इन कवियों में ऊँचा पांडित्य न था, ऊंचा अध्ययन भी न था, न मौलिक तर्कशक्ति ही थी। हाँ, कवि-प्रतिभा कम न थी। फल यह हुआ कि एक बड़ा साहित्य तैयार हो गया जिसके एक दोहे में लक्षण और कवित्त और सवैये में उसका उदाहरण रहता। उदाहरण सदैव लक्षण पर पूरा उतरे, यह बात भी नहीं। कभी-कभी वे लक्षण एक ही ठहरते हैं, कभी लक्षण ही अस्पष्ट और ग़लत हैं, परंतु उदाहरण सदैव उच्च कोटि के होते हैं। वास्तव में आचार्यत्व का दम भरनेवाले रीतिकालीन कवि उच्च प्रतिभा-सम्पन्न कवि-मात्र थे।

इन रचनाओं की परम्परा में हमें सबसे पहले कृपाराम मिलते हैं, जिन्होंने १६वीं शती के पूर्वार्द्ध में 'हिततरंगिणी' की रचना की; यद्यपि पं० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल जैसे विद्वानों का अनुमान है कि यह ग्रन्थ बिहारी सतसई के बाद की रचना है (देखिये कोषोत्सव स्मारक ग्रन्थ में उनका 'केशवदास' पर लेख)। परंतु असल में यह परंपरा १६ वीं शताब्दी के आरंभ में ही अथवा उसके कुछ पहले जाती है क्योंकि कृपाराम ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के नाम लिये हैं। इनके समसामयिक गोप कवि और मोहनलाल मिश्र के अप्राप्त ग्रन्थों रामभूषण और अलंकार चंद्रिका (गोप) और शृङ्गारसागर (मोहन-लाल मिश्र) का उल्लेख करना भी अनुचित न होगा। इन अप्राप्य ग्रन्थों के बाद हमें केशवदास के बड़े भाई पं० बलभद्र मिश्र का "नख-शिख" सम्बन्धी ग्रन्थ मिलता है।

रीतिग्रन्थों का एक दूसरा स्रोत भी हमारे पास है—वह है कृष्ण-भक्तिकाव्य की व्याख्या में लिखे ग्रन्थ। सूरदास की साहित्य-लहरी में नायिका-भेद और अलंकारों का ही निरूपण है, यद्यपि उसमें न सब नायिका ही मिलेंगी, न सब अलंकार ही। उनके शिष्य और "अष्टछाप" के कवि नन्ददास ने रसमंजरी'-सम्बन्धी नायिका-भेद का ग्रन्थ लिखा और उनके अन्य ग्रन्थों पर भी रस विवेचन और शृङ्गार रस सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं की पूरी छाप है। उसी समय अकबर के दरबार में रहीम ने 'बरवै नायिकाभेद" लिखा और तुलसी के ग्रन्थों पर भी उनके रस-शास्त्र के अध्ययन की पूरी छाप है। इन सब कवियों की दृष्टि 'रस' पर ही अधिक गई थी, वे सब उच्च-रस-कोटि के कवि थे।

परन्तु हिन्दी काव्य संसार में जिस रीति कवि की ओर हमारी दृष्टि सब से पहले जाती है, वे महान कवि केशवदास ही हैं। रीति-काल के कवियों में वे अग्रगण्य हैं। केशव ने 'रामचंद्रिका' में राम-कथा लिखी, परन्तु उसमें भक्ति-भावना नहीं है, पांडित्य-प्रकाशन ने उनकी अनेक कविताओं को ऊहापोहात्मक कर दिया है। उसमें वासना का भी गहरा पुट है। उनकी दो रचनाएं वीर-प्रशस्ति हैं—वीसलदेव चरित और रतन बावनी—परन्तु इससे वे वीरकाव्य के कवि नहीं हो जाते। हमें उनकी रचनाओं की मूल प्रवृत्ति देखनी है। वास्तव में केशवदास ने अपने समय की सभी धाराओं को बल दिया है, परन्तु वे प्रतिनिधित्व रीति-काव्य-धारा का ही कर सके हैं। उनकी रीति-सम्बन्धी दो पुस्तकें हैं—रसिकप्रिया (शृङ्गार रस सम्बन्धी) और कविप्रिया (कविज्ञान और अलंकार-सम्बन्धी)। यही पुस्तकें हमारे सामने उनके प्रकृत रूप को रखती हैं। केशव भक्तिकाल और रीति-काल की संधि पर खड़े हैं, इसलिए हम उन्हें भक्ति विषयक कथानक पर लिखते भी देखते हैं (रामचंद्रिका—१६०१), परन्तु उनके पांडित्य

और उनकी रीति-कालीन प्रवृत्ति ने भक्ति का गला घोंट दिया है। वे मौलिकता के पीछे पड़ गये हैं। कथानक में मौलिकता है, छन्द पद-पद पर बदले हैं, अधिकांश छन्द अलंकारों के उदाहरण जान पड़ते हैं और इन सब में प्रबन्धात्मकता ऐसे खो जाती है कि ग्रन्थ गोरखधंधा रह जाता है। केशव की महत्ता यह है कि उन्होंने पहली बार हिन्दी साहित्य का संस्कृत साहित्य के सभी काव्यांगों का परिचय करा दिया। जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, रस और अलंकार-ग्रन्थों का प्रकाशन १५४१ ई० (हिततरंगिणी—कृपाराम) से ही हो गया था। परन्तु ये प्रयत्न संस्कृत-साहित्य-शास्त्र से बहुत अधिक प्रभावित नहीं थे, न उस समय इस प्रकार की कोई परिपाटी खड़ी हुई जैसा बाद में हुआ। इनमें से किसी ने काव्य-शास्त्र का पूरा परिचय भी नहीं कराया था। अधिकांश कवि-आचार्य रसवादी थे। केशवदास ने भामह, उद्भट और दंडी जैसे प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया जो रस, रीति आदि को अलंकार मान लेते थे। उनकी प्रकृति तो स्वयम् चमत्कार-प्रिय थी और इसी से उन्होंने संस्कृत साहित्य की ऐसी पुस्तकों को अपनाया जो साहित्य-शास्त्र के विकास की दृष्टि से बहुत पीछे पड़ गई थीं।

कदाचित् केशव की इसी अति-प्राचीनवादिता के कारण ही उनके बाद रीतिग्रन्थ रचने की परिपाटी नहीं पड़ी—सब लोग उन प्राचीन ग्रन्थों से परिचित न थे। परिपाटी आधी शताब्दी के बाद चली और उसने परवर्ती आचार्यों का आश्रय लिया। अलंकार ग्रन्थों का प्रणयन चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसरण में हुआ और काव्य के रूप में रसको प्रधान मानने वाले ग्रन्थों "काव्य-प्रकाश" और "साहित्य-दर्पण" को आधार बनाया गया। रीति-ग्रन्थ-प्रणयन की यह अखण्ड परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से आरम्भ होती है, जिन्होंने १६४३ ई० के लगभग काव्य-विवेक, कविकुल-कल्पतरु,

काव्य-प्रकाश ग्रन्थ लिखे और छन्दशास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी। इस परम्परा के कवि एक दोहे में लक्षण लिखते हैं और कवित्त या सवैये में उनका उदाहरण देते हैं। इस प्रकार एक दोहे में लक्षण स्पष्ट नहीं हो सकता था, न उसमें विवेचन के लिए ही स्थान था। इसके लिए गद्य ही उपयुक्त होता, परन्तु गद्य विशेष प्रयोग में नहीं आ रहा था। दूसरी बात यह है कि आचार्यत्व का ढोंग भरने वाले इन कवियों में न इतनी विद्वत्ता थी जितनी संस्कृत कवियों में, न सूक्ष्म पर्यालोचन-शक्ति। उन्होंने संस्कृत रीतिशास्त्र को किसी प्रकार आगे नहीं बढ़ाया। लक्षण-ग्रन्थ लिखना बहाना मात्र था, उद्देश्य कविता था। एक दोहे में अपर्याप्त उदाहरण लक्षण से मेल नहीं खाता था। कुछ अलंकारों के भेद न समझने के कारण भी गड़बड़ी थी और प्रायः संस्कृत और हिंदी आचार्य कवियों के भेद इसलिये भिन्न हो गये हैं। परन्तु विभिन्नता का कारण कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था, अतः हिन्दी साहित्य में अलंकारों आदि का अध्ययन विकास की दृष्टि से नहीं किया जा सकता।

रीतिकाव्य के कवियों में एक दूसरा वर्ग ऐसे कवियों का था जो एक दम लक्षण-ग्रन्थों की रचना करने नहीं बैठे, परंतु साहित्य-शास्त्र उन्हें भी अलक्षित रूप से प्रभावित कर रहा था। ऐसे कवियों की रचनाएँ तुलना की दृष्टि से पहले कवियों की रचनाओं से अधिक महत्वपूर्ण हैं। इस वर्ग के हम दो भाग कर सकते हैं। पहले वर्ग के कवियों (बिहारी, मतिराम आदि) पर साहित्यशास्त्र, कला और संस्कृत साहित्य का प्रभाव था; दूसरे वर्ग के कवियों में (जो उत्तरार्द्ध में आते हैं, जैसे बोधा, घनानन्द) अनुभूति की प्रधानता थी और मौलिकता की मात्रा अधिक थी।

रीतिकाव्य की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसपर संस्कृत रीति-शास्त्र का प्रभाव तो था ही, परन्तु इस से भी अधिक संस्कृत काव्य-परंपरा का प्रभाव था। हमें उन्हीं कवि प्रसिद्धियों

और काव्यगत रूढ़ उपमानों के दर्शन होते हैं जो संस्कृत के परवर्ती काव्य में ग्रहण हुये हैं। नायिका के अंगों के उपमानों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। जहाँ कहीं फ़ारसी का प्रभाव लक्षित है, वहाँ भी वह परवर्ती संस्कृत कवियों (गोवर्द्धनाचार्य आदि) के ढङ्ग पर ग्रहण किया गया है। इस प्रकार इस काव्य की आत्मा संस्कृत साहित्य के परवर्तीकाल से बल पाती है। वह मूलतः भारतीय है, यद्यपि वासनामूलक और ऐश्वर्यमूलक। एक प्रकार से उसमें भक्ति-काव्य के प्रति प्रतिक्रिया भी है जो रूढ़िवादी, रोमांटिक और पार-लौकिक था। इसके विपरीत रीतिकाव्य नैतिक भावनाओं से हीन, क्लासिकल और ऐहिक (लौकिक) था, परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकार की कविता में उस समय की जनता की मूल मनोवृत्ति पाई जाती है। जहाँ तक कलाप्रियता की बात है, वहाँ तक तो यह ठीक है, परन्तु "शृङ्गार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की अभिरुचि नहीं थी, आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी, जिनके लिए कर्म-ण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।" (हिन्दी-साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २६१)। जिस प्रकार राजा-महाराजा और मध्यवर्ग के पंडित या कायस्थ समाज का जीवन निश्चित परिपाटी में बँध गया था, उसी तरह यह काव्य भी परिपाटी में बँधा हुआ था।

एक प्रकार से अधिकांश काव्य नागरिक था। उसके प्रकृति-वर्णन कल्पनामूलक और शास्त्र एवं साहित्य प्रेरित थे। उद्दीपन की जो पद्धति ग्रहण की गई थी, उसका आधार शास्त्रीय ज्ञान रहा, स्वतंत्र प्रकृति-पर्यवेक्षण नहीं। इसके अतिरिक्त एक नई पद्धति "बारहमासे" (बारह महीनों विरहिणी की दिनचर्या) लिखने की चाल चल पड़ी जो "षटऋतुवर्णन" का ही विकास था। हो सकता है, इसके पीछे हिन्दी लोकगीतों का भी प्रभाव हो। इसका मूल भी विप्रलम्भ में था।

बरवौं और दोहों में कुछ कवि प्राकृतिक गाथाओं के लेखकों के साहित्य और उनके दृष्टिकोण को अपनाने के कारण गाँव की प्रकृति और ग्रामीण प्रेम और नायिकाओं का चित्रण हुआ जो इस सारे साहित्य में वही स्थान रखता है जो मरु-भूमि में तरुवेष्टित जलमयी वनस्थली।

कुछ उस समय की साहित्यिक एवं सामाजिक परिस्थिति पर भी विचार कर लेना चाहिए। केशव का समय संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतिहास का वह युग है जिसमें संकलन और विश्लेषण का काम ज़ोरों पर था। प्राचीन रसमार्ग उद्भट आदि आलंकारिकों और रीतिमार्गियों के प्रचण्ड आक्रमणों को सहकर भी मम्मट आदि नवीन रसमार्गियों के प्रयत्न से अपने उचित स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया था। ध्वनि-मार्ग आगे चलकर उसकी प्रतिद्वन्दिता में प्रतिष्ठित हुआ था परन्तु वह भी उसका पोषक बन बैठा। यद्यपि रस के वास्तविक स्वरूप के विषय में अप्पय दीक्षित और पंडितराज गंगाधर के वाद-विवाद के लिए अभी स्थान था पर फिर भी शास्त्रकारों ने यह निश्चित कर लिया था कि काव्य में सारभूत अंश या वस्तु रस है और अलंकार, रीति और ध्वनि अपनी शक्ति के अनुसार उसके सहायक हैं, विरोधी नहीं। फलतः साहित्यकार अब विरोधी मतों से बहुत कुछ विरोधी अंश निकाल कर साहित्यशास्त्र के भिन्न-भिन्न अंगों के सामञ्जस्य से एक पूर्ण पद्धति बना रहे थे। विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण और उसके समान ग्रन्थ इसी प्रयत्न के फल थे। केशव इन्हीं पिछले ढङ्ग के आचार्यों में हैं। संस्कृत से चली आती हुई परम्परा को उन्होंने हिन्दी में स्थान दिया। परन्तु उनके बाद रीति-प्रवाह को विशेष विकसित करने का श्रेय चिन्तामणि, भूषण (शिवराज भूषण, १६६६–७३) और मतिराम (ललितललाम, १६६४, रसराज) को मिला।

मुसलमानों की धार्मिक भाषा तो अरबी थी, परन्तु दरबार की भाषा इस समय फ़ारसी थी। इस भाषा का बहुत बड़ा साहित्य मुसलमानों के भारतवर्ष के प्रवेश के पहले ही बन चुका था। बहुत-से हिन्दुओं ने जो दरबार से सम्बन्धित थे, यह भाषा सीखी। इस काल में उत्तर भारत में उर्दू का विकास हुआ तो वह भी फ़ारसी के नमूने पर। फ़ारसी भाषा का कलापक्ष अब तक बहुत उन्नत हो चुका था। भावपक्ष के दृष्टिकोण से उसमें दो धाराएँ थीं—

१. सूफ़ी प्रेम-धारा।

२. लौकिक प्रेम-धारा (शृङ्गार-धारा)।

सूफ़ी विचारावली का प्रभाव हिन्दी प्रान्त की जनता और उसकी भाषा पर इस काल के पहले ही सूफ़ी सन्तों द्वारा (कवियों या काव्य पुस्तकों द्वारा नहीं) पड़ चुका था। इससे हिन्दी साहित्य में एक नवीन धारा चल पड़ी थी जिसे हमने सूफ़ी धारा या प्रेम-मार्गी धारा कहा है। यह इस काल में भी चल रही थी। अतएव दरबार के प्रभाव से फ़ारसी साहित्य के वाह्य-रूप (कलापक्ष) की चमक हिन्दू कवियों की आँखों में चकचौंध पैदा करने लगी। लौकिक प्रेमधारा या शृङ्गारधारा न भाव में, न कलापक्ष में ही भारतीय कवि के लिए नई चीज़ थी। इतिहास के गुप्तकाल से संस्कृत साहित्य में इस प्रकार का साहित्य विकसित हो चुका था। कलापक्ष पर अलंकार, रस आदि विषयक संस्कृत ग्रन्थ सामने थे। फ़ारसी कवियों से होड़ लेने के लिए इनसे सहायता ली गई और कुछ इस कारण से, कुछ जनता के उच्च वर्गों की विलास-प्रियता से रीति कालीन अलंकृत धारा चल पड़ी। यह धारा संस्कृत और बाद में प्राकृत में बहुत काल (संभवतः तांत्रिक या राजपूत काल तक) चलती रही थी और इसकी अन्तिम देन गाथा सप्तशती, आर्यासप्तशती और शृङ्गार-रस के सुभाषित थे। नये

कवियों ने आचार्यों के कलापक्ष-सम्बन्धी नियम और काव्य-साहित्य दोनों को अपने सामने रखा। यह प्रभाव अकबर के समय से शुरू हुआ और उसके राजकाल (१५५६–१६०५) तक अच्छी तरह विकसित हो गया। जो कवि राज-दरबार से सम्बन्धित थे, उन पर यह प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। यहाँ से आरम्भ होकर यह प्रभाव बाहर के कवियों में फैला। अकबर के दरबार के कवि थे तानसेन (१५६०-१६१०), राजा टोडरमल (१५८३–१५८६), बीरबल (१५२८–१५८३), गंग आदि। मुग़ल राजाश्रय हिन्दी के कवियों को औरंगज़ेब के समय (१७०७ ई०) तक मिलता रहा। धीरे-धीरे दो राजाश्रय विकसित हो गये थे— एक मुसलिम प्रान्तीय शासकों के दरबार, दूसरे हिन्दू राजे जिन्होंने मुग़ल सम्राट की नीति से प्रोत्साहित होकर कवियों को आश्रय देना शुरू किया था। दोनों की रुचि प्रायः एक-सी ही थी, इसलिए संस्कृति में भेद होते हुए भी दोनों राजाश्रयों के काव्य में दृष्टिकोण का कोई अंतर नहीं है। औरंगज़ेब के समय (१६५६-१७०७) में हिन्दी रीति-कविता की अवनति हुई। १७वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में यह बात स्पष्ट होने लगती है और १८वीं शताब्दी के मध्य तक रीति-काव्य थोड़ी मौलिकता भी खोकर चट्टान की तरह ठोस और दृढ़ हो जाता है। कवियों की संख्या पर्याप्त रहती है परन्तु किसी का व्यक्तित्व दूसरे के व्यक्तित्व से ऊंचा नहीं है। इने-गिने विषयों का ही पिष्टपेषण किया गया है।

इस प्रकार रीति-काव्य का जन्म और विकास हुआ। इस काव्य के सम्बन्ध में हमने जो अब तक कहा है, उसे संक्षेप में, सुस्पष्ट रूप में यों रख सकते हैं—

(१) रीति-काव्य में साहित्य-चर्चा के नाते रीति के तीन अंगों पर लिखा गया—रस, अलंकार, ध्वनि। रस की शास्त्रीय व्यवस्था सब से

प्राचीन है। यह भरत मुनि के काव्य से मिलती है। वास्तव में रस का प्रधान केन्द्र नायक-नायिका है। अलंकार-शास्त्र का सम्बन्ध केवल भाषा से है, अतः उसका माध्यम काव्य है। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में केवल कुछ अलंकारों की चर्चा प्रसंग-वश कर दी गई है परन्तु उसका विशेष उल्लेख एवं विवेचन बाद में हुआ। ध्वनि सम्प्रदाय ने जिसके प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य थे दोनों को एकत्र किया। उसने कहा कि रस ध्वनित भी हो सकता है, अतः जहाँ केवल अलंकार है, वहाँ रस की ध्वनि भी उत्पन्न की जा सकती है। इस व्याख्या के अनुसार फुटकल पदों में अलंकार के साथ रस का सृजन भी सम्भव समझा गया।

यह हम कह चुके हैं कि भाव-धारा के रूप में शृङ्गार-रस प्रधान है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से अलंकारों को ही विशेष महत्व मिला है, रस को नहीं। वास्तव में रस, अलंकार और ध्वनि को एक स्थान पर एकत्रित करने की चेष्टा की गई है जो सब जगह समान रूप से सफल नहीं हुई है।

संस्कृत अलंकार-शास्त्र में आचार्य व्याख्याता होता था, कवि नहीं। वह अपने मत के समर्थन में प्रसिद्ध रचनाओं से उदाहरण उपस्थित करता था। मुक्तकों से इस प्रकार के उदाहरण उपस्थित करना सहल था, इसलिए प्राकृत और संस्कृत के सैकड़ों मुक्तकपद और श्लोक उद्धृत किये गये। यहाँ हिन्दी में एक दूसरी ही रीति चली। कवित्व और आचार्यत्व का मेल करने का प्रयत्न हुआ। ग्रन्थकर्त्ता उदाहरण भी स्वयम् गढ़ता था। रीति काव्य का एक बड़ा भाग लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए लिखा गया है, परन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने से यह पता चलता है कि हिन्दी रीतिकाल के कवियों को रीति की शुद्धता की चिन्ता और अन्वेषण की

प्रवृत्ति इतनी नहीं थी, जितनी किसी प्राचीन रीतिग्रन्थ का सहारा लेकर स्वतंत्र रूप से लक्षण कह कर रचना करने की।

२—इसी रीति-विवेचन में एक चौथी धारा काम-शास्त्र की मिल गई थी। ऐसा संस्कृत काव्य में ही हो चुका था। संस्कृत के कवि प्रेम-प्रसङ्ग में काम-शास्त्र के ज्ञान का पर्याप्त परिचय देते थे। हिन्दी में प्रेम के व्यावहारिक प्रसंगों में इससे सहायता ली गई।

३—नाट्यशास्त्र और रसशास्त्र से नायिका-भेद लिया गया और उसे कल्पना के बल पर इतनी बड़ी दूर तक विकसित किया गया।

४—परन्तु रीति-अंगों के अतिरिक्त संस्कृत काव्य-रूढ़ियाँ, स्त्री-अंगों के लिए बँधे उपमान, कवि-प्रसिद्धियाँ, छन्द सभी विषयों में रीति काव्य पर संस्कृत-साहित्य का विशेष आभार है।

५—इसके अतिरिक्त राधा-कृष्ण का प्रेम-प्रसङ्ग और बंशी आदि के प्रसङ्ग कृष्ण-काव्य और तत्कालीन कृष्ण-भक्ति से आ गये। केशवदास ने कृष्ण को स्पष्ट रूप से शृङ्गार-रस का देवता माना है। इस बात का ध्याम रखना चाहिये कि अधिकांश रीतिकाव्य राधा-कृष्ण का आलम्बन लेकर चलता है।

६—रीतिकाव्य में काव्य-कौशल (कला) का महत्व अधिक हो गया। रस, अलंकार और नायिका-भेद ही सब कुछ हो गये, भाव की मौलिकता कुछ भी नहीं रही। फुटकल पदों की इसी से भरमार हो गई। सारा रीतिकाव्य मुक्तक रूप में उपस्थित है—ये मुक्तक दोहा, सवैया, कवित्त छन्द में ही अधिक हैं। इनमें यमक, अनुप्रास जैसे कलाप्रधान अलङ्कारों पर ही व्यापक दृष्टि डाली गई है।

७—जिन कवियों ने लक्षणों के उदाहरण के रूप में अपनी कविता उपस्थित नहीं की, वे भी रीति-ग्रन्थों से प्रभावित थे।

८—रीतिकाव्य ने संस्कृत की सारी रूढ़ियाँ नहीं अपनाईं, परन्तु उसने स्वयं इस प्रकार की कुछ रूढ़ियाँ गढ़ लीं जिनसे कवि बराबर प्रभावित होते रहे। कवियों की इस अनुकरण-वृत्ति का फल यह हुआ कि वह उत्तरकालीन संस्कृत आचार्यों की दुनिया में रहने लगे या उन्होंने अपनी अलग दुनिया बना ली। अलंकारों और नायिका-भेद के बाहर की दुनिया के उन्हें दर्शन नहीं हुए। उन्होंने अपने स्वतन्त्र निरीक्षण और स्वतंत्र चिंतन की बलि कर दी। स्वतन्त्र चिंतन की ही नहीं, स्वतंत्र व्यक्तित्व की भी। फिर भी प्रत्येक कवित्त-सवैये के अंत में कवि अपनी छाप लगा ही देता है, जैसे उसका अपना व्यक्तित्व है, उसका नाम भुलाया न जा सके।

९—परन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस २००-२५० वर्ष के कवियों के काव्य को क्या रस, अलकार, नायिकाभेद के उदाहरण के रूप में ही समझा जाये? यह भूल होगी। सारे रीतिकाल में रस और अलङ्कारों के वैज्ञानिक और शास्त्रीय विवेचन की प्रवृत्ति कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ती। उन्होंने विवेचन के लिए भी दोहे-जैसे छोटे छन्द का प्रयोग किया। अतः स्पष्ट है कि विवेचना उनका ध्येय नहीं था। जिस तरह पिछले भक्त-कवि राधा-कृष्ण की लीला को कविता का बहाना बनाते थे, उस तरह इस युग के कवि लक्षणों को बहाना मात्र समझते थे। सच तो यह है कि उन्हें एक अच्छा सहारा हाथ लग गया था। इसी से वे अपने उदाहरणों में अधिक सतर्क भी नहीं जान पड़ते। इसी से कहीं-कहीं उन्हें जब यह जान पड़ता है कि उनका उदाहरण उस अलङ्कार में नहीं आता जिसके उदाहरण-स्वरूप वह उपस्थित किया गया है, तो वे एक नया अलङ्कार-भेद गढ़ लेते हैं।

१०—उन कवियों ने लोकजीवन को अधिक निकट से देखा, विशेषकर जहाँ तक शृङ्गार का सम्बन्ध है। परन्तु उन्होने बहुधा उसे

राधाकृष्ण की प्रेम लीला के रूप में ही हमारे सामने रखा। वास्तव में अलौकिक शृङ्गार की लौकिक प्रतिष्ठा भक्तों ने ही कर दी थी। कृष्ण, गोपियां, राधा की प्रेम-विरह और अभिसार की कथाएँ लोक जीवन के प्रेम-विरह और अभिसार से मिल गई थीं। रीतिकाल में भक्ति की तन्मयता कम रही, काव्य और कला का पक्ष अधिक दृढ़ होने के कारण उसका रूप ही बदल कर सामने आया। भक्तों की कृपा से लौकिक जीवन में अलौकिक और अलौकिक जीवन में लौकिक देखने लगे थे। शृङ्गार के समुद्र में कहीं-कहीं इनके भक्त-हृदय की झलक भी इसमें मिल जाती है, तो हम आश्चर्य करते हैं, परन्तु यह आश्चर्य की बात नहीं। सच तो यह है कि रीति-कवियों ने काव्य पक्ष में शास्त्रीय परम्परा (रस, अलङ्कार) का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था। परन्तु भावना-पक्ष में लोकजीवन और कृष्णचरित को ही लेकर चल रहे थे।

धीरे-धीरे काव्य व्यवसाय हो गया। जन-रुचि बिगड़ने लगी। राजाश्रय पहले ही बिगड़ा हुआ था। विहारी के शब्दों में—

अली अली सों बिंध रह्यो आगे कौन हवाल?

ऐसी परिस्थिति में, राजकीय विलासिता, युग की शिथिलता, बिगड़ी जनरुचि, संस्कृति, आचार्यों का प्रभाव और फ़ारसी कविता के सम्पर्क में होकर हिन्दी रीति-काव्य-धारा बही। केशवदास की रसिकप्रिया और कविप्रिया की परिपाटी नहीं बनी, परन्तु रसवादी चिन्तामणि के प्रवेश करते ही कविता का अखंड रस-स्रोत बह निकला। चिन्तामणि के अतिरिक्त अन्य प्रमुख कवि हैं—सेनापति, विहारी, मतिराम, कुलपति मिश्र, महाराज जसवंतसिंह, सुखदेव मिश्र। परम्परा के प्रभाव से जिस कुत्सापूर्ण काव्य का निर्माण हो रहा था, केवल सेनापति ही उससे कुछ ऊपर उठे हुए हैं। उनके प्रकृतिवर्णन की स्वाभाविकता और सरसता सारे रीतिकाव्य में नहीं मिलेगी। षटऋतुवर्णन में

अधिकांश कवि उद्दीपन-भाव का निरूपण ही सामने रखते थे। परंतु सेनापति ने प्रकृति के स्वतंत्र चित्र दिये हैं जिसमें काव्य-प्रसिद्धियों और कल्पना को भी उचित स्थान मिला है।

उन्नीसवीं शताब्दी के साथ राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बदलीं। देश मुसलमान शासकों के हाथ से निकल कर अंग्रेज़ शासकों के हाथ में चला गया। बड़े-बड़े राज्य हड़प लिए गये। छोटे-छोटे राज्य और जागीरदार रह गये। कवियों के यही मात्र आश्रय थे। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हम हिन्दी कविता में कोई परिवर्तन नहीं पाते--रीति, शृङ्गार, वैष्णव, सन्त—सभी काव्य-धाराएँ मरणोन्मुख हैं, परन्तु चल रही हैं। राधा-कृष्ण को लेकर शृङ्गार-काव्य की रचना की मात्रा इस काल में भी कम नहीं है। इस समय के मुख्य कवि पद्माकर, ग्वाल, लछिराम, गोविंद गिला भाई, प्रतापसाहि और पजनेस हैं। इन कवियों ने भाषा के नवीन ढङ्ग के प्रयोग से अपने काव्य में पिछले कवियों से कुछ विशेषता लाने की चेष्टा की है—शब्द-सौन्दर्य पर बल दिया गया है, भावानुकूल शब्द-योजना, रस-पोषक भाषा का प्रयोग, उक्तियों की नवीनता और रसिकता, अनुप्रास एवं वर्णमैत्री का प्राधान्य—ये बातें नई दिशा को सूचित करती हैं, कवि भाव की मौलिकता की अधिक परवाह नहीं करता परन्तु उसके भाषा के नवीन प्रयोगों ने भाव में भी कुछ-न-कुछ मौलिकता उत्पन्न कर दी है। इसी समय कुछ ऐसे कवियों के दर्शन होते हैं जिन्होंने प्रेम के प्रकृत रूप को समझा था और भाषा की चहल-पहल में न पड़कर प्रकृत रूप से ही अपने काव्य को उपस्थित किया। ये कवि बोधा, घनानंद, रसखान, आरम्भ की उस परम्परा को आगे बढ़ाते हैं जो पूर्व रीतिकाल में शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभूति के आधार पर श्रेष्ठतम काव्य की सृष्टि कर चुके थे। इस उत्तरार्द्ध के सबसे महान् कवि हरिश्चन्द्र (१८५०--८५) हैं। इन्होंने रीति-शास्त्र

और परिपाटी से मुक्त रहकर भी बहुत सा काव्य लिखा, परन्तु परि-पाटी-बद्ध काव्य भी कम नहीं है। हाँ प्रेम के प्रकृत रूप को उन्होंने शास्त्रों से नहीं, अपने अनुभव से समझा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति-काव्य कुछ विशेष परिस्थितियों की उपज था और उसने २५० वर्ष तक हिन्दी कविता के क्षेत्र में एकच्छत्र राज किया। १६५० ई० से लेकर १६०० ई० तक एक विशेष प्रकार की काव्य-धारा चलती रही जो अन्य काव्य-धाराओं से अनेक प्रकार भिन्न थी। इस रीति-काव्य के आरम्भ में केशवदास आते हैं और अन्त में हरिश्चन्द्र और श्रीधर पाठक। हरिश्चन्द्र और श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली की कविता का प्रवर्तन किया, परन्तु वे अपने ढङ्ग पर रीति-काव्य के अन्तिम कवि थे। रीति-कविता पहले भी लिखी जाती रही और बीसवीं शताब्दी में भी जगन्नाथप्रसाद 'रत्नाकर' जैसा सुन्दर कवि हमें मिल सका। परन्तु जनता का बल उसे उसी तरह प्राप्त नहीं रहा, जिस तरह पिछली ढाई शताब्दी में।

रीति-काल की कविता में मनुष्य की कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ प्रकाशित हुई। ये प्रवृत्तियाँ सब देशों, सब कालों में सत्य हैं। इसी से रीति-काल की कविता का महत्व सदा रहेगा। ये प्रवृत्तियाँ हैं— १ प्रेम, विलास और दाम्पत्य-जीवन की चुहलों का वर्णन। २. सौन्दर्य-दर्शन। ३. पांडित्य प्रदर्शन। ४. भाषा का व्यंगात्मक (लाक्षणिक) और कला-प्रधान प्रयोग। प्रत्येक युग के काव्य में इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ रहती हैं। परन्तु रीतिकाल में यही प्रवृत्तियाँ सब कुछ बन गई थीं। जिस प्रकार मनुष्य केवल दो-चार प्रवृत्तियों को लेकर चले तो अपूर्ण है, उसी प्रकार रीति-काव्य भी केवल कुछेक प्रवृत्तियों को ले चलने के कारण अपूर्ण है। परन्तु अपने में तो फिर भी वह बहुत कुछ पूर्ण है ही। हिन्दी काव्य के आदिकाल में ही इन प्रवृत्तियों की झलक मिल गई थी। चारण-काव्य और सामन्ती काव्य में यही सब

प्रवृत्तियाँ हैं, परन्तु उसका मूल स्वर वीर भाव होने के कारण ये प्रवृत्तियाँ इतनी पुष्ट नहीं हैं। विद्यापति के काव्य में हम पहली बार ये सब प्रवृत्तियाँ अपनी पराकाष्ठा में पाते हैं। राधा कृष्ण का नाम तो केवल नाम-मात्र है, विद्यापति के काव्य में इनके पीछे आध्यात्मिकता बहुत कम है। नायक-नायिका का बहुविधि भाव-विलास ही 'पदावली' के गीतों का विषय है। यह अवश्य है कि विद्यापति भागवत और जयदेव से प्रभावित हैं परन्तु उनकी राधा-कृष्ण-कथा का सारा ढाँचा ही दूत-दूतियों की चुहलों, पूर्वराग, मान, अभिसार और मिलन के प्रसंगों पर खड़ा है। विद्यापति का समय १३७५ ई०—१४४८ ई० तक है। सूरदास का समय १४८६—१५८५ ई० तक है। यह स्पष्ट है कि विद्यापति और सूरदास दोनों पर रीति-विचार-धारा का गहरा प्रभाव है। यदि विद्यापति के बाद अगली शताब्दी में ब्रज के धार्मिक आन्दोलन नहीं उठ खड़े होते, तो १४०० ई०—१६०० ई० तक के काव्य में हम रीति-कविता का विशेष विकास पाते। परन्तु इन धार्मिक आन्दोलनों ने जनता और कवियों का ध्यान उपरोक्त प्रवृत्तियों से हटाकर धर्म की ओर खींचा। अतः रीति-काव्य की धारा कृष्ण-भक्ति-काव्य में होकर बहने लगी और उसका रूप विकृत हो गया। वास्तव में कृष्ण-भक्ति-काव्य में प्रच्छन्न रूप से रीति और शृङ्गार का आग्रह है। राधा और गोपियों को लेकर कृष्ण के जो प्रेम-प्रसंग मिलते हैं, उन्हें जहाँ धर्मप्राण साधक रूपक और अध्यात्म के रूप में ग्रहण करता है, वहाँ साधारण रसिक रीतिकाव्य के रूप में उससे आनन्द लेता है। जब एक शताब्दी बाद यह धार्मिक प्रभाव कम हो गया, तो रीति-काव्य की धारा अपने असली रूप में सामने आई।

जब यह धारा नये, स्वतंत्र रूप से सामने आई, तब कृष्ण-काव्य में बहुत कुछ ऐसा कहा जा चुका था जो रीति-काव्य के भीतर आना

चाहिये था। वाग्वैदग्ध्यपूर्ण नयन के पद, मान, मानमोचन, खंडिता, स्थूल मिलन, और वियोग के पद, पांडित्य-पूर्ण दृष्टिकूट और राधा-कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन के पद रीति-काव्य की बहुत-सी सामग्री को नये रूप में उपस्थित कर चुके थे। अतः कवियों ने एक नई परिपाटी से काम लिया। उनकी दृष्टि मम्मट, पंडितराज जगन्नाथ और अन्य आचार्यों पर गई और उन्होंने साहित्य-शास्त्र की आवश्यकता समझते हुए रीति के हिन्दी ग्रन्थ उपस्थित करना आरम्भ किये। कवि-कर्म इतना ही रह गया कि संस्कृत के ग्रन्थों में जहाँ उदाहरण प्रसिद्ध ग्रन्थों के रहते थे, वहाँ ये नये कवि धड़ल्ले से अपने रचे उदाहरण देने लगे। इस प्रकार रीति-काव्य का वह बड़ा भाग तैयार हो गया जिसे हम उदाहरण काव्य कह सकते हैं। इनमें न कवि की स्वतन्त्र वृत्ति का परिचय मिलता है, न उनके आचार्यत्व का। कुछ दूसरे कवि भी इस कवि-कर्म तक ही नहीं रह गये। उन्होंने प्राकृत मुक्तक-काव्य (आर्या-सप्तशती, गाथासप्तशती) और संस्कृत के सुभाषितों को सामने रखकर स्वतंत्र रूप से प्रेम-विलास को लेकर मुक्तक-काव्य की सृष्टि की। वास्तव में हम पहले कवियों को कवि-कर्मी कहेंगे, इन दूसरे कवियों को कवि। इन कवियों और कवि-कर्मियों का इतना बड़ा भण्डार हिन्दी-साहित्य में सुरक्षित है कि अभी उसपर सम्यक विचार ही नहीं हो सका है। उसकी अपनी त्रुटियाँ हैं, अपनी दुर्बलताए हैं; परंतु बहुत कुछ ऐसा भी है जो सुन्दर है और जो काल के झोंकों में भी बचा रह सका है। सौन्दर्य, प्रेम, विलास और जीवन की तरुणाई की अनेक रंगीली परिस्थितियों से अनुरंजित हिन्दी का रीति-काव्य लांछित सही, परंतु बहुत कुछ अंशों में सुन्दर और स्वस्थ भी है, आज यह कहना कोई बड़े साहस की बात नहीं।

रीतिकाव्य का सबसे सुन्दर ग्रन्थ विहारी की सतसई है। हिन्दी काव्य-जगत में रामचरितमानस के बाद यदि कोई पुस्तक सबसे अधिक

प्रिय हुई है तो वह कविवर विहारीलाल की सतसई है। विहारी के समय में ही इसकी इतनी प्रसिद्धि हो गई थी कि मतिराम जैसे कवि पर इसका प्रभाव पड़ा और टीकाओं की वह शृङ्खला आरंभ हुई जो अब तक अटूट चली आती है। टीकाए भी एक दो नहीं, आधे शतक से ऊपर टीकाओं को तो श्री जगन्नाथ प्रसाद 'रत्नाकर' ने ढू ढ़ निकाला है, पता नहीं कितनी और काल-कलवित हो गई अथवा अभी प्रकाश में नहीं आई। ब्रजभाषा के लगभग प्रत्येक कवि पर भाषा और भाव की दृष्टि से विहारी सतसई का प्रभाव पड़ा है; और शृङ्गार के दोहों, कवित्तों, सवैयों का एक बड़ा मुक्तक साहित्य-विहारी के काव्य को पकड़ कर खड़ा हो सका है। हिन्दी साहित्य जगत में न इतना अनुकरण सूर को छोड़ कर और किसी कवि का हुआ, न किसी का इतना प्रभाव ही पड़ा।

सतसई का रचनाकाल १६६२ ई० है। इसमें ७०० दोहे हैं जो किसी एक निश्चित समय पर नहीं बने, समय-समय पर बनते रहे। बाद में विहारी ने इन्हें संग्रहीत करके सतसई का रूप दिया; जैसा अंतिम दोहे से स्पष्ट है—

हुकुम पाइ जयसाहि को हरि-राधिका प्रसाद
करी विहारी सतसई भरी अनेक संवाद

दोहों के बनने के समय में एक जनश्रुति इस प्रकार है—आमेर-नरेश मिर्ज़ा जयसाहि (जयसिंह) नई बहू को ब्याह लाये थे। उसके ही रंग में रंग गये थे। राज-काज देखना छोड़ बैठे थे। बड़ी चौहान रानी और सारी प्रजा असंतुष्ट थी। इतने में विहारी घूमते-फिरते उधर आ निकले। वे उधर आशा ही करते थे। सब कर्मचारी उनके कवि-कौशल और वाग्वैदग्ध्य से परिचित थे। रानी ने कहा—कोई उपाय करो। विहारी ने एक उपाय सोचा। एक दोहा लिखकर रनवास (अन्तःपुर) में भिजवा दिया—

नहिं पराग नहिं मधुररस नहिं विकास इहिं काल
अली कली ही सों बिंध्यो आगे कौन हवाल

जयसिंह इस दोहे को पढ़ कर बाहर निकल आये। विहारी को देख कर बड़े प्रसन्न हुए। कहा, प्रत्येक दोहे पर एक अशर्फी देंगे। विहारी दोहे लिखते, अशर्फ़ियाँ ले आते। इस तरह सतसई के दोहे बने।

विहारी ने जो दोहा रनवास में भेजा था उसका आधार सातवाहन की गाथासप्तशती में एक गाथा थी—

यावन्न कोश विकासे प्राप्नोतीषन्मालती कलिआ
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि

(अभी मालती की कली में कोष का विकास भी नहीं हो पाया कि मकरन्द को पान करने के लोभी भौंरे तूने उसका मर्दन आरम्भ कर दिया।) परंतु विहारी ने थोड़ा-सा परिवर्तन करके उसे परिस्थिति पर घटा दिया है— "आगे कौन हवाल ?" मध्ययुग के राजनैतिक संघर्ष में रहने वाले महाराजा के लिए कितनी सार्थक व्यंजना थी ! इस प्रकार के कितने ही दोहे विहारी सतसई में हैं जिनमें विहारी ने प्राचीन कवियों, विशेषकर सातवाहन, गोवर्धनाचार्य और अमरुक से लाभ उठाया है, परंतु प्रत्येक अवसर पर उन्होंने अत्यंत सार्थक, सफल और चमत्कारी परिवर्तन किये हैं जिन्होंने उपहरण को कवि-कर्म मे बदल दिया है। अमरुक का शार्दूलविक्रीड़ित छंद है—

शून्यं वासगृहे विलोक्य शयनामुत्थाय किञ्चिच्छनै
निद्रा व्याजमुचाबातस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्
विस्रबंध परिचुम्ब्य जात पुलका मालोक्य गण्डास्थली
लज्जा-नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता

विहारी कहते हैं—

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाइ
हँस्यौ खिस्यानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ

परिवर्तन किस प्रकार का है, यह स्पष्ट है। उससे भाव की व्यंजना और मार्मिकता कितनी अधिक बढ़ गई है!

इस प्रकार विहारी का काव्य व्यंजना-प्रधान है। वह उस प्रकार का काव्य है जिसे मुक्तक, उद्भट काव्य, सूक्ति या सुभाषित कहा गया है। उसमें जो कुछ कहा गया है, वह चमत्कार की दृष्टि से कहा गया है; परंतु जो कुछ कहा गया है वह जीवन और साहित्य के पलड़ों पर पूरा उतरता है।

सतसई का मूल विषय शृङ्गार है; यद्यपि भक्ति, दर्शन, नीति और इतिहास-विषयक दोहे भी मिल जाते हैं। सतसई की प्रसिद्धि ६०० के लगभग उन्हीं शृङ्गारी दोहों पर ही अवलंबित है। इन दोहों में नायिका के सौन्दर्य, दीप्ति. कांति, नखशिख, हावभाव, अनुभाव, केलिविलास आदि शृङ्गार की समस्त भूमि उपस्थित है। नेत्रों और अनुभावों एवं हावों के वर्णन में तो सूर को छोड़ कर विहारी अद्वितीय ही हैं। कहीं-कहीं एक ही दोहे में अनेक भाव भर दिये गये हैं—

बतरस लालच लाल को मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै दैन कहै नटि जाइ॥

अथवा—

भौहं उँचै, आँचरु उलटि, गौरि भौरि मुहु मोरि,
नीठि-नीठि भीतर गई, दीठि दीठि-सौं जोरि॥

विभ्रम अनुभाव का एक उदाहरण है—

रही दुहेंड़ी ढिग धरी भरी मथनिया बारि
फेरति करि उलटी रई नई बिलावनिहारि

परंतु विहारी हावों और अनुभावों पर ही नहीं रुक जाते हैं। वे प्रेम के अत्यंत प्रकृत रूप का चित्रण करते हैं—

ललनु- चलनु सुनि पलनु में अँसुवा झलके आइ
भई लखाइ न सखिनु हूँ झूँठै ही जमुहाइ
कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेसु लजात
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात
कर लै चूमि चढ़ाइ सिर उर लगाइ भुज भेंटि
लहि पाती पिय की लखति बँचति, धरति समेटि
कर-मुँदरी की आरसी प्रतिबिंबित प्यौ पाइ
पीठि दियै निधरक लखै इकटक डीठि लगाइ

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा कि विहारी प्रेम की भारतीय रीति से कितने परिचित थे। प्रेमी की तन्मयता, अनन्यता, बेबसी, मोह—सभी का अत्यत सुन्दर चित्रण विहारी सतसई में मिलेगा। हमारे सारे साहित्य में कोई एक ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसमें प्रेमी-प्रेमिका के संयोग-वियोग के सम्बन्ध में इतनी मार्मिक सूक्तियाँ हों।

प्रेम ही नहीं, प्रकृति के चित्रण में भी विहारी अन्य कवियों से बहुत आगे हैं। हिंदी कविता में प्रकृति को आलंबन बना कर बहुत ही कम रचनाए हुई हैं; अधिकांश कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन-रूप में उपस्थित किया है। परंतु विहारी में हमें दोनों रूप मिलते हैं। उन्होंने अनुप्रास, शब्द-योजना और नादसौन्दर्य से अपने प्रकृति-चित्रण को पुष्ट किया है। उनके बसंत-समीर का वर्णन तो बेजोड़ है—

रुनित भृङ्ग घंटावली झरत दानु मधुनीर
मदमंद आवत चल्यो कुंजर कुंज कुटीर
चुवत सेदु मकरंद कन तरु-तरु तर विरमाय

आवत दच्छिण देस ते थक्यो बटोही बाय
लपटीं पहुप पराग-पट सनी सेद मकरंद
आवति नारि नवौढ़ लौं सुखद बाय गति मंद

इन्हीं चित्रों पर मुग्ध होकर एक अंग्रेज़ आलोचक ने कहा है—

"He (Bihari) is particularly happy on his description of natural phenomena, such as the scent-laden breeze of an Indian Glooming, the way-worn pilgrim from Sandal South adust, not from the weary road but from his pollen quest brow headed with rose-dew for Sweat, and lingering, beneath the trees, resting himself, and inviting others to repose."

वास्तव में बिहारी सतसई भाषा, भाव और चित्र सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपम है। साधारण पाठक को उनके अर्थ समझने में कठिनाई होती है। कुछ इसलिए कि बिहारी ने ४८ मात्राओं के अत्यंत छोटे छंद में बड़े-बड़े प्रसंग भर दिए हैं, कुछ इसलिए कि कितने ही दोहों के लिए संदर्भ जानने की आवश्यकता है और कितने ही दोहों का अर्थ समझने के लिए रीति-साहित्य की परिपाटी से परिचित होना नितांत आवश्यक है। बिहारी का एक सुन्दर दोहा है—

रहौ गुही बेनी लख्यौ गुहिबे को त्यौनार
लागे नीर चुचान ये नीठि सुखाये बार

संदर्भ इस प्रकार है—नायक-नायिका की वेणी गूंथ रहा है। परंतु सूखे बालों से पानी किस तरह गिरने लगा, यह समझ में नहीं आता है। जो साहित्य-परंपरा से परिचित है वही जान सकता है कि स्पर्श से दम्पति को स्नेह सात्विक भाव हुआ है। नायिका स्वाधीन-पतिका है। गर्व संचारी भाव है। इसके अतिरिक्त दोहे के रस को पूर्णतः ग्रहण

करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पाठक यह भी जाने कि इस दोहे में पंचम विभावना और व्याजोक्ति अलंकार हैं। इस प्रकार रस और अलंकार एवं ध्वनि की शास्त्रीय पद्धति से परिचित होकर ही विहारी के काव्य का रसास्वादन संभव है। जो पाठक शास्त्र-ज्ञान को लेकर विहारी सतसई की ओर बढ़ते हैं, वही उसकी ठीक-ठीक महानता जान सकते हैं।

विहारी की प्रकृति अत्यंत रसिक थी। वह सौन्दर्य और प्रेम के अनन्य उपासक थे। नायिका की एक-एक अदा उन्हें प्रिय थी। नायिका दोनों हाथ उठा कर सिकहर में दहेंडी रखती है। ऐसी दशा में नायक ने उसके तने हुए शरीर और अधखुले पीनपयोधरों को देख कर यह कहा है—

अहै दहेंडो जिनि धरै जिनि तू लेहि उतारि
नीके है छींके छुए ऐसी ही रहिनारि

(हे प्यारी, न तो तू दहेंडी को सिकहर पर रख और न वहाँ से नीचे उतार। इसी प्रकार सिकहर छुए हुए खड़ी रह। तेरी यह अदा मुझे बहुत भली मालूम होती है।)

इसी रसिकता ने विहारी से कुछ ऐसे दोहे भी कहलाए हैं जो उनके समय की सामाजिक शिथिलता पर प्रकाश डालते हैं और सुन्दर परिहास उपस्थित करते हैं।

बहु धनु लै, अहसानु कै पारौदेत सराहि।
बर-बधू हँसि भेद सों, रही नाह मुँहु चाहि॥

वैद्य जी स्वयम् तो नपुंसक हैं पर रोगी की नपुंसकता दूर करने के लिए पारे की भस्म दे रहे हैं।

परतिय दोष पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्र हूँ मुँह-आई मुसकानि॥

कथावाचक जी स्वयम् पर-स्त्रीगमन के अपराधी हैं परन्तु पर-स्त्री वहिष्कार का उपदेश दे रहे हैं। इसी प्रकार ज्योतिषी जी पुत्र की जन्मकुण्डली में पितृमारक योग देखकर दुखित थे, कि देखा कि लड़का जारज संतान है, खिल उठे कि जान बची—

चित पित मारक जोगु गनि भयो भये सुत सोगु
फिर हुलस्यो जिइ जोइसी समुझै जारज-जोगु

इस प्रकार के दोहे बिहारी सतसई को और भी सरस बना देते हैं यदि इसे अश्लीलता न कह कर सरसता कहा जाय !

परंतु सतसई में दोष भी हैं और बड़े दोष हैं। उस पर फ़ारसी विरह-निरूपण-पद्धति का असंगत प्रभाव है। नायिका विरह में इतनी दुबली हो जाती है कि निश्वासों के साथ-साथ छः-सात हाथ आगे, छः-सात हाथ पीछे झूलती रहती है, जैसे हिंडोले पर झूल रही हो। विरह ताप इतना अधिक है कि जाड़े के दिनों में भी सखियाँ गीले कपड़े की आड़ देकर उसके पास जाती हैं। उसके गाँवों में लुए चलती रहती हैं, गुलाब की शीशी उस पर छिड़की जाती है तो गुलाब जल का एक छींटा भी शरीर पर नहीं पड़ता, गुलाव जल बीच ही में भाप बनकर उड़ जाता है, यहाँ तक कि मौत भी उसके पास आने से डरती है कि जल न जाये। साहित्यिक दोष भी मिल जाते हैं-- दो एक दोहों में पतित-प्रकर्ष दोष है, अनेक स्थानों पर लिंग-वचन की विभिन्नता मिलेगी, यमक और अनुप्रास के फेर में पड़ कर कहीं-कहीं भाव की उच्चता और कथन की स्पष्टता पर ध्यान नहीं रहा है। और भी कुछ दोष हैं। परंतु सतसई के अनेक गुणों के सामने इन छोटे-बड़े दोषों का परिहार आप ही हो जाता है।

सच तो यह है कि बिहारी की सतसई हिन्दी की अमूल्य निधि है। भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्य में तो उसकी जोड़

की चीज़ है ही नहीं। विश्व-साहित्य में भी एक ही स्थान पर इतने साहित्यगुणों के साथ प्रेम, विरह और सौन्दर्य सम्बन्धी इतनी सूक्तियाँ अलभ्य हैं। आवश्यकता इस बात की है कि बिहारी को सौन्दर्य-निष्ठ रसिक कवि के रूप में देखा जाय और शृङ्गार-साहित्य के अन्य अनेक वासना-भ्रष्ट कुरसिक कवियों की मण्डली में उन्हें न मिला दिया जाय। जिस दिन हम शृङ्गार-साहित्य को सौन्दर्य-शास्त्र और प्रेम-शास्त्र के ऊंचे पैमाने से परखने लगेंगे उस दिन बिहारी का स्थान सर्वोच्च होगा।

रीतिकाव्य के प्रतिनिधि ग्रन्थों में 'बिहारी सतसई' के बाद केशवदास की 'रसिकप्रिया' का ही नाम आता है। केशवदास के ग्रन्थों में भी 'रसिकप्रिया' सर्वश्रेष्ठ है। आचार्यत्व की दृष्टि से चाहे कवि-प्रिया का कितना ही महत्व रहा हो और पांडित्य की दृष्टि से रामचंद्रिका चाहे जितनी भी स्तुत्य हो, केशव की काव्य-प्रतिभा और सहृदयता के सर्वोच्च दर्शन रसिकप्रिया में ही होते हैं। रसिकप्रिया रस-ग्रन्थ है। उसमें कवित्त-सवैयों का संग्रह है जो केवल उदाहरण-रूप में उपस्थित हैं। ये उदाहरण लक्षणों पर पूरे नहीं उतरते। रसिकप्रिया के नायक हैं कृष्ण, राधा है नायिका। यद्यपि केशव ने ग्रन्थारंभ में कृष्ण में नवरसों की स्थापना की है परंतु वे स्वयं शृङ्गाररस को ही लेकर रह गये और उनके इस मौलिक रसस्थापन का आगे के कवियों ने उपयोग नहीं किया। यदि किया होता तो हिंदी साहित्य का भंडार अत्यंत सुन्दर कवित्त और सवैयों से पूर्ण होता और रस-वैभिन्न्य का अच्छा अवसर मिलता।

इसी मान्यता को लेकर केशव के अधिकांश पदों में स्पष्ट रूप से कान्ह, राधिका आदि शब्द रखे हैं और जहाँ नहीं रखे हैं, वहाँ भी वे व्यंग्य हैं। इस प्रकार सारे नायिका-भेद को राधा-कृष्ण पर घटा दिया गया है। प्रकाशों के अंत में वे बराबर लिखते आये

हैं कि वे राधा-कृष्ण का शृङ्गार वर्णन कर रहे हैं। इससे कई विशेषताएँ उनके काव्य में आ गई हैं—

(१) निर्वैयक्तिकता—कवि को आत्म-व्यंजना नहीं करनी पड़ी। उसने सारी भावनाओं का आरोप राधा-कृष्ण पर कर दिया और वह जैसे तटस्थ खड़ा रहा। यद्यपि अंत में वह परंपरानुसार अपना नाम लिख डालता है; जैसे वह कह रहा हो कि बात चाहे किसी की हो, मूल में व्यक्तित्व उसका ही है, यह भुला देना ठीक नहीं होगा। रीति-काव्य में जो तटस्थता, परव्यंजकता, आत्मव्यंजना को दबाने की प्रवृत्ति है, वह इसी कारण से कि कवि ने अपने को अपने काव्य से दूर रखा है।

(२) कृष्ण का नायक-रूप—इस प्रकार के सवैयों में कृष्ण लौकिकनायक के स्तर पर उतर आते हैं, राधा लौकिक नायिका के। इस प्रकार रीतिकाव्य में पौराणिक राधा-कृष्ण और भक्तिकाव्य के राधा-कृष्ण का साधारणीकरण हो गया है। यदि हम विश्लेषण करें तो पता लगेगा कि यह साधारणीकरण की प्रवृत्ति कई शताब्दियों से चली आती थी। भागवत में कृष्ण ब्रह्म हैं। राधा का उल्लेख नहीं है, परंतु वे गोपियों के साथ प्रेम-लीलाएं रचते हैं। व्यास पद-पद पर बता देते हैं कि यह प्रेम-लीला ब्रह्म-जीव के अनन्य संबंध का रूपक है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में गोलोकवासी कृष्ण की प्रेयसी के रूप में राधा भी प्रतिष्ठित है। आलिङ्गन, परिरंभण, संयोग आदि का स्पष्ट उल्लेख है। कृष्ण को 'कामकलानिधि' कहा गया है। यद्यपि रीति-शास्त्र का सहारा नहीं लिया गया है। जयदेव के काव्य में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण से सूत्र लेकर कृष्ण को धीर-ललित नायक के रूप में चित्रित किया गया है। यहाँ भी कृष्ण उसी रूप में उपस्थित हैं, परन्तु कवि प्रकृति के उद्दीपन, मान, दूती, अभिसार—इनका भी सहारा लेता है। ये स्पष्टतयः शृङ्गार-शास्त्र में मान्य हैं,

परंतु यहाँ यह खण्ड-काव्य के विषय बना दिये गये हैं। विद्यापति के काव्य में कृष्ण-राधा को एकदम नायक-नायिका के रूप में खंडकाव्य बना कर उपस्थित किया गया है। विद्यापति के विषय हैं—राधा-कृष्ण का पूर्वराग, मिलन, अभिसार, मान, दूती, मान-मोचन, पुनर्मिलन, विरह, मानसिक मिलन। यहाँ मानसिक मिलन के आध्यात्मिक संकेत को छोड़ कर शेष लौकिक प्रेमकाव्य ही है। सूरदास ने राधा-कृष्ण के प्रेम-विकास को रीतिशास्त्र के भीतर से नहीं देखा यद्यपि 'साहित्य लहरी' के पदों में अलंकार निरूपण और नायिका-भेद का प्रयत्न है। फिर भी सूरसागर के राधा-कृष्ण का प्रेम-विकास अत्यन्त स्वाभाविक है; फिर भी शृङ्गार काव्यो का सहारा उन्होंने लिया है। उनके ग्रन्थ पर ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और जयदेव का प्रभाव अधिक है। उनके पदों में आध्यात्मिक अर्थ लौकिक शृङ्गार से पुष्ट होता हुआ आगे बढ़ता है। परन्तु कवि ने प्रेम-विकास को अत्यन्त मानवीय धरातल पर उतारा है।

केशव के काव्य में राधा-कृष्ण नायक-नायिकाओं की शृङ्गार रसांतर्गत सभी परिस्थितियों के भीतर से गुज़रते हैं। इसका कारण यह है कि उन्हें उन पदों में आना है जो शृङ्गार की अनेक परिस्थितियों के उदाहरण स्वरूप हैं। रीतिकाव्य में कृष्ण का यही रूप मान्य हो गया है। रीतिकाव्य में भक्ति का समावेश भी है यद्यपि लक्ष्य सहृदय पाठक ही है, भक्त नहीं। यह स्पष्ट है कि रीतिकाव्य की इस प्रकार की कवित्त-सवैयों की परंपरा केशव से ही चली। उन्होंने अत्यंत शक्ति-शाली रूप से नई रूढ़ियों का निर्माण किया है। 'रसिकप्रिया' में कवि ने प्रसादगुण को हाथ से नहीं जाने दिया है और माधुर्यवृत्ति का भी ध्यान रखा है। इससे अनेक स्थानों पर सुन्दर काव्य की सृष्टि वह कर सका है। जैसे—

आजु विराजत हैं कहि केशव श्री वृषभानु कुमारि कन्हाई
बनो विरंचि वही रस काम रचो जो वरी सो बधू न बनाई
अंग त्रिलोकि त्रिलोक में ऐसी को नारिनिहारन बारि लगाई
मूरतिवंत शृंगार समीप शृङ्गार किये जानो सुखदाई

यहाँ कवि ने वाणी (सरस्वती) को कामदेव के हाथों रचाया है। यह अत्यन्त असाधारण कल्पना है। नारी-सौन्दर्य के आदर्श के लिए रति की कल्पना हुई है, वाणी की नहीं। एक दूसरा कवित्त है—

कोमल विमल मन विमला सी सखी के साथ
कमला ज्यों लीने हाथ कमल सनाल के
नूपुर की ध्वनि सुनि मोरे कलहंसन के
चौंकि चौंकि परैं चारु चेटवा मराल के
कंचन के भार कुच भारनि सकुच भार
लचकि लचकि जात कटि तट बाल के
हरैं हरैं बोलत विलोकत हरेंई हरैं
हरैं हरैं चलत हरत मन लाल के

ऊपर के पद में 'विमल', 'विमला'; 'कमल', 'कमला' आदि में अनुप्रास आग्रह स्पष्ट है। इसी प्रकार 'कंचन के भार कुच भारनि सकुच भार' कह कर कवि ने अपनी नायिका को अत्यंत ऐश्वर्यवती, सौन्दर्य-वती और लज्जावती चित्रित किया है। भाषा-सौन्दर्य ने सौन्दर्य का एक मूर्त चित्र उपस्थित कर दिया है—

चौंकि चौंकि परैं चारु चेटवा मराल के

वास्तव में भक्त कवियों ने ब्रजभाषा को काफ़ी माँज दिया था। रीति-कवियों ने उनके इस भाषा-संस्कार से काफ़ी फ़ायदा उठाया था।

नन्ददास का एक पद है— प्यारी, पग हरैं हरैं धर। केशवदास ने इस 'हरैं' शब्द का चमत्कार ही उपस्थित किया है।

एक छंद में केशव ने सांगरूपक द्वारा कृष्ण के सौन्दर्य का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

चपला पट मोर किरीट लसै मघवा धनु शोभ बढ़ावत है
मृदु गावत आवत वेणु बजावत मित्र मयूर लजावत है
उठि देखि भटू भरि लोचन चातक चित्त की प्यास बुझावत है
घनश्याम घने घन वेष धरे जुबने बनते ब्रज आवत है

परंतु अधिकांश कवित्त-सवैयों में केशव यमक का मोह नहीं छोड़ पाते

हरित हरित हार हेरत हियो हरत
हारी हूँ हरिन बैठी हरिन कहूँ लहौं
बनमाली ब्रज पर बरषत बनमाली
बनमाली दूर दुख केशव कैसे सहौं
हृदय कमल नैन देखि कै कमलनैन
होहुँगी कमलनैनि और हौं कहा कहौं
आप घने घनश्याम घनहीं ते होत घन
श्याम के दिवस घनश्याम बिन क्यों रहौं

इस प्रकार के काव्य की तह तक पहुँचना कठिन काम है। पाठक को पहली ही पौर पर दंडधारी यमक का सामना करना पड़ता है जिसका भेद कोष की सहायता के बिना खुल ही नहीं सकता। तब उसे स्त्री-अंगों के प्रति रूढ़ काव्यालङ्कारों का भेद जानना होता है। इसके बाद ही उसे केशव की "हरिण नेत्री" नायिका के दर्शन होते हैं।

कहीं-कहीं केशव कल्पना की अत्यंत तीव्र उड़ान को रूपक में बाँध देते हैं, जैसे—

है तरुणाई तरंगिन पूर अपूरव पूरब राग रँगे पय

केशवदास जहाज मनोरथ संभ्रम विभ्रम भूर भये मय
तर्क तरंग तरंगित तुङ्ग तिमिंगल शूल विशालनि के चय
कान्ह कछू करुणामय हे सखि तैंही किए करुणा वरुणा से

इसमें तरुणाई को समुद्र बनाया गया है, प्रेम के मनोभावों या मिलनेच्छा का जहाज़ है, तर्क की तरंगों से यह जहाज़ टकरा रहा है, हृदय वेदना रूपी तिमिंगल उसे नष्ट करने पर तुला ही है। कृष्ण ही इस जहाज़ को करुणा कर पार लगाते हैं। साधारणतः इस प्रकार का कल्पना भक्ति काव्य को ही विशेष शोभित करती है, परंतु यहाँ उससे शृङ्गार रस की वृद्धि ही अभीष्ट हो गई है। फिर भी ऐसी उत्प्रेक्षाएँ उच्च कवि-प्रतिभा प्रगट करती हैं। इसी कोटि की एक उत्प्रेक्षा यह है-

बन में वृषभानु कुमारि मुरारि रमैं रुचिसों रस रूप पिये
कहू कूजत पूसत कामकला विपरीत रची रति केलि लिये
मणि सोहत श्याम जराइ जटी अति चौकी चलै चहु चार हिये
मुखबूल के मूल भुलावत केशव भानु मनो शशि अंक किये

कहीं-कहीं यह कल्पना की उड़ान इतनी ऊंची और असंगत हो जाती है कि साधारण चिंता उसे पकड़ भी नहीं सकती, जैसे यहाँ पर—

भाल गुही गुन लाल लटैं लपटी कर मोतिन की सुखदैनी
ताहि विलोकत आरसी लै कर आरस सोह करुनारस नैनी
केशव कान्ह दुरे दरसी परसी उपमा मति को अति पैनी
सूरजमंडल में शशिमंडल मध्य धँसी जनु ताल-त्रिवेणी

इस छंद में नायक-नायिका की प्रतिबिंब भेंट का वर्णन है। नायिका ने जो माला पहनी है उसका तागा लाल रंग का है, मोतियों की लर उस पर लिपटी है। वह आरसी लेकर उस हार को अपने हृदय पर तरंगित देख रही है। इतने में कृष्ण (नायक) आ गये। पीछे से छिप कर उसे

देखने लगे। परंतु नायिका की आरसी में उनकी झाँई पड़ी और नायिका ने उन्हें पकड़ लिया। लाल गुण में गूँथी हुई माला जैसे सूरज मंडल है, नायिका का मुख शशिमडल है, कृष्ण जैसे त्रिवेणी हैं। या नायिका की वेणी-माला और मुख की परछाई के बीच आ पड़ी है और कृष्ण उसे छिप कर देखते हैं।

केशव ने 'बोध माल' के अंतर्गत कुछ प्रेमकूट भी लिखा है जो एक प्रकार से सूरदास के दृष्टकूटों की ही श्रेणी का है। अंतर यह है कि उनके खोलने के लिए एक शब्द के अनेक अर्थ जानने और अर्थ की परंपरा लगाने की आवश्यकता है; और यहाँ रसशास्त्र की रूढ़ियों और कवि-परंपरा का ज्ञान अनिवार्य है। नायिका सखियों में बैठी है-

बैठी हुती वृषभानु कुमारि सखीन की मण्डलि मण्डि प्रवोनी
लै कुम्हिलानो सो कंज परी इक पायन आइ गुवारिन धीनी
चंदन सों छिटकी वह पाकँह पान दये करुणारस भीनी
चंदन चित्र कपोलीन लीपिकै अंजन आँजि विदा कर दीनी

ग्वालनी ने कुम्हलाया हुआ जो कमल सामने पैरों पर रखा, इसका अर्थ है कि नायक इसी की भाँति तेरे विरह में कुम्हला रहा है। नायिका ने उस कमल पर चंदन छिड़का, अर्थ बताया कि मैं उसके हृदय की विरहतपन शांत करूगी। पान दिया—कि मैं भी उससे अनुराग करती हूँ। उस ग्वालिनी के गालों पर चंदन लेप कर और आँखों में अंजन लगा कर विदा किया, अर्थात् नायक जान ले जब चाँदनी फैलेगी और सब सो जायेंगे, तब मिलूँगी। इसी प्रकार यह दूसरा पद है—

सखि मोहन गोप सभा महँ गोविंद बैठे हुते द्युति को धरिकै
जमु केशव पूरण चंद्र लसै चित चोर चकोरन को हरिकै

तिन को उलटो करि आन दियो किहु नीरज नीर नए भरिकै
कांह काहे तै नेकु निहार मनोहर फेर दियो कलिका करिकै

गोविंद गोप सभा में बैठे हैं, इससे नायिका का आदेश दूती स्पष्ट तो कह नहीं सकती। अतः इशारा हुआ। उसने पानी से भरा हुआ कमल लाकर उलटा कर उन्हें दिया— तात्पर्य यह है कि नायिका उनके वियोग में इस तरह रो रही है। कमल नेत्रों के उपमान हैं ही। नायक ने उसको थोड़ा देखा, और उसके फैले हुए दलों को संकुचित कर, उसे कली का रूप बनाकर दूती को लौटा दिया। यहाँ व्यंग है कि जब कमल संकुचित हो जायगा, तब मिलूंगा। काव्य-प्रसिद्धि है कि रात होने पर कमल संकुचित हो जाते हैं। सारे छंद का ढाँचा इसी रूढ़ि-प्रसिद्धि पर खड़ा है और इसे समझे बिना पाठक छंद का अर्थ नहीं जान सकता। कवि ने इन प्रेमकूटों को बोधमाल के उदाहरण में रखा है, परंतु हम जानते हैं कि बाद में उन पर स्वतंत्र रूप से कविता का प्रासाद खड़ा किया गया।

•

'रसिकप्रिया' में अनेक ऐसे कुरुचिपूर्ण स्थल भी हैं जिनके लिए केशव सत्य ही लांछित हैं। राधा-कृष्ण का प्रेम एकांतिक प्रेम है, कम से कम रीति-कवियों में। वहाँ गोपियाँ, राधा और कृष्ण यही तीन व्यक्तित्व प्रधान हैं। नंद, यशोदा, वृषभानु और उनकी पत्नी, सास-ससुर, मा-बाप के रूप में नहीं आती। इस एकांतनिष्ठ लीला-विलास के दर्शन हमें भक्त कवियों में ही होते हैं। बाद में तो इस एकांतिक प्रेम के चित्रण में एकदम मर्यादा का अभाव हो गया। केशवदास ने अपने काव्य में प्रसंगवश नायक-नायिका के मिलन की योजना की है। एक पद में धाइ के घर मिलने की व्यवस्था है; दूसरे पद में घर में आग लग गई है, भाग-दौड़ मची है, परंतु कृष्ण इस हड़बड़ में सोती राधिका को जगा कर—

लोचन बिसाल चारु चिबुक कपोल चूमि
चँपे की सी माला लाल लौनी उर लाय कै

एक पद में उत्सव के दिन मिलना होता है, एक पद में न्योते के मिस। वास्तव में केशव की कल्पना लोक व्यवहार के साथ चलती है। उनके काव्य में उनके समय का ठीक-ठीक प्रतिबिंब हमें मिलता है। सच तो यह है कि परवर्ती रीतिकाल की शृङ्गार रस विवेचन की सभी प्रवृत्तियाँ केशवदास की इस रचना में पूर्ण विकसित रूप से मिलती हैं। युग-चेतना किस ओर दौड़ रही है, यह हमें इन कविताओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

ऊपर हमने लिखा है कि विहारी और केशवदास रीतिकालीन प्रतिनिधि कवि हैं। इसका तात्पर्य केवल यह है कि इन कवियों के काव्य में उस युग की लगभग सभी प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं। परन्तु रीतिकाल की काव्यधारा लगभग ४०० वर्ष चली और अनेक अन्य कवियों ने उसे पुष्ट किया। वास्तव में विद्यापति के काव्य में ही रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित मिलती हैं, परन्तु बाद में इन प्रवृत्तियों का विकास कुछ दिनों के लिए रुक गया। इसका कारण यह था कि इसी समय कुछ अत्यन्त शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन आरम्भ हो गये और जनता की धर्म-भावना का प्रतिनिधित्व करने वाले कवि ही लोकप्रिय हो सके। परन्तु कृष्ण-भक्ति-काव्य में राधा, कृष्ण और गोपियों को लेकर जो अनेक प्रेम-प्रसंग और संयोग-वियोग के चित्र चलते थे, वे बराबर चलते रहे। अनेक कृष्ण भक्त-कवि साहित्य-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे और उन्होंने इस शास्त्र की अनेक मान्यताओं को स्वीकृत नायक-नायिका रूप में राधाकृष्ण को लौकिक स्तर तक उतार लिया। जो है, यह निश्चित है कि रीति-काव्य का विशेष विकास विद्यापति के दो सौ वर्ष बाद होना आरम्भ हुआ। केशवदास इस नये काव्य के अग्रगण्य कवि थे और

उन्हें एवं बिहारी को इस काव्यधारा को महत्वपूर्ण ढङ्ग से बलवती बनाने का श्रेय प्राप्त है।

परन्तु लगभग चार-सौ वर्ष चलने वाली इस धारा में अनेक सुन्दर कवियों ने योग दिया। आचार्य शुक्लजी के इतिहास में रीतिकाल के कवियों का थोड़ा सा परिचय दिया गया है और यदि हम इनका नामोल्लेख मात्र करें तो भी यह संख्या सौ से ऊपर पहुँचेगी। इनमें प्रधान कवि हैं चिंतामणि त्रिपाठी, बेनी, महाराज जसवंतसिंह, मतिराम, भूषण, कुलपति मिश्र, सुखदेव मिश्र, कालिदास त्रिवेदी, राय, नेवाज, देव, श्रीधर या मुरलीधर, सूरतिमिश्र, कवीन्द्र (उदयनाथ), श्रीपति, वीर, कृष्ण कवि, रसिक सुमति, गञ्जन, प्रीतम, भिखारीदास, भूपति, तोषनिधि, दलपति राय, बंसीधर, सोमनाथ, रसलीन, रघुनाथ, दूलह, कुमारमणि भट्ट, शम्भूनाथ मिश्र, शिवसहाय दास, रूपसाहि, ऋषिनाथ, वैरीसाल, दत्त, रतन कवि, हरिनाथ, मनीराम मिश्र, चन्दन, देवकीनन्दन, महाराज रामसिंह, थान कवि, वेनी बन्दीजन, बेनी प्रवीन, जसवन्तसिंह द्वितीय, यशोदानन्दन, करन कवि, गुरदीन पांडे, ब्रह्मदत्त, पद्माकर भट्ट, ग्वालकवि, प्रतापसाहि, रसिक गोविन्द, आलम, घन-आनन्द, रसनिधि, बोधा, ठाकुर (असनी वाले प्राचीन ठाकुर, असनी वाले दूसरे ठाकुर और तीसरे ठाकुर बुन्देलखण्डी) चन्द्रशेखर, पजनेस द्विजदेव और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। देखने में यह सूची बहुत ही बड़ी है और रचनाओं की संख्या भी कम नहीं है, परन्तु इन रचनाओं में रीतिकालीन प्रवृत्तियां चार शताब्दियों तक प्रवाहित हो सकी हैं।

ये रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ क्या हैं, इस पर हम पहले विचार कर चुके हैं। यहाँ हम संक्षेप में ही इन पर विचार करेंगे।

१. भाषा के लिए व्यापक रूप से ब्रजभाषा का प्रयोग रहा। वही रीतिकाल की काव्य भाषा है। ब्रज के धार्मिक कवियों, विशेषतयः

अष्टछाप की कृपा से ब्रजभाषा का काव्य दूर-दूर तक पहुँच गया था और परवर्ती काल में उनका बहुत-सा अनुकरण भी हुआ। कवि अध्ययन के द्वारा इस नई काव्य-भाषा में पटुता प्रदान करते हैं, परन्तु उनकी भाषा काव्य ग्रन्थों की भाषा है, जनता की भाषा नहीं।

२. मुख्य रूप से दोहा, कवित्त और सवैया छन्दों का प्रयोग हुआ है।

३. रीतिकाल के अनेक विषय हैं, परंतु मुख्य विषय हैं नर-नारी का प्रेम और उसके संयोग-वियोग के दो पक्ष।

४. अधिकांश रीतिकालीन कवियों ने स्वतन्त्र रूप से काव्य की रचना नहीं की। उन्होंने रस, अलंकार और छन्द सम्बन्धी ग्रन्थ लिखने की चेष्टा की और उदाहरण के रूप में श्रेष्ठ काव्य उपस्थित किया।

५. भाषा-शैली, मूर्त्तिमत्ता और भाव-भंगिमा की दृष्टि से सब कवियों में उतनी ही समानता है, जितनी भक्त कवियों में। नखशिख, बारहमासा, षट्ऋतुवर्णन प्रभृति अनेक शैलियाँ इन कवियों में बराबर चलती रही हैं।

जो हो, यह निश्चित है कि अन्य काव्य धाराओं के समान रीति-काव्य की भी एक धारा चली और ग़दर (१८५७) तक यह बराबर चली आती रही। भारतेन्दु काल (१८५०—१९००) में धीरे-धीरे नई प्रवृत्तियों ने उस पर विजय पाई, परन्तु परंपरा के रूप में इसका पालन अब तक हो रहा है, यद्यपि एक विशेष वर्ग में। अन्य साहित्यिक धाराओं की अपेक्षा इसमें एक नवीनता थी। सिद्ध, सन्त, नाथ, भक्त (राम, कृष्ण) काव्यधारा जनता से सम्बन्धित थी। साहित्य में उनकी कोई परंपरा नहीं थी। उन्होंने अपनी अन्यतम भावनाओं का प्रकाशन किया, काव्य शास्त्र की शृङ्खला में वे नहीं बँधे। रीतिकाव्य की धारा का आधार संस्कृत के साहित्य-शास्त्र थे, उनके प्रेरणा के स्रोत थे

मतलब था, न इनके काव्य को। उनकी प्रेरणा साहित्यिक थी। वे एक वर्ग विशेष के लिये लिख रहे थे। यह वर्ग विशेष था उस समय के राजे-महाराजे और अमीर समाज जो चुहल और विलासिता में डूबा हुआ था।

परंतु युग की पृष्ठ-भूमि से ही हम रीति काव्य की पूरी-पूरी व्याख्या नहीं कर सकते। हमें पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य और संस्कृत साहित्य शास्त्र का ऋण भी स्वीकार करना होगा। रसराज का प्रधानत्व और शृङ्गार का रसराजत्व संस्कृत काव्यमें ही स्वीकार किया जा चुका था। संस्कृत काव्य में ही भक्ति और शृङ्गार बहुत कुछ पास आ गये हैं। हर-गौरी का शृङ्गार एवं विलास कवि-परंपरा में खूब चला। बाद को जब पुराणों ने कृष्ण के क्रमशः अधिक विकसित शृङ्गारिक रूप को जनता के सामने रखा तो कवियों की कल्पना उद्दीप्त हो उठी। जहाँ तक हम जानते हैं, पहले-पहल जयदेव ने गीत गोविन्द में कृष्ण-राधा को अभिनव रूप में उपस्थित किया। "चाहे भक्ति समझ लो, चाहे हरिकथा, चाहे विलास।" वास्तव में इसमें जयदेव की मौलिकता नहीं थी। यह हर-गौरी वाले पुरातन दृष्टिकोण का ही नवीन संस्करण था। जयदेव ने अपने काव्य को भागवत के आधार पर खण्डकाव्य के रूप में खड़ा किया था और यद्यपि उन्होंने दूती और अभिसार के प्रसङ्ग रखे थे परंतु कथा को निश्चित रीति-पद्धति पर आगे नहीं बढ़ाया था। उनके काव्य में दूती और अभिसार प्रसङ्गवश आये हैं। दूसरी ओर उनके 'गीत गोविन्दम्' में शब्दों की कोमलता, छन्दों की हिल्लोल वृत्ति और सङ्गीत का प्राचुर्य एक रहस्यमय वातावरण उपस्थित कर देते हैं और यद्यपि उन्होंने राधा-कृष्ण का लगभग वही रूप रखा है जो 'ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण' में दिखलाई पड़ता है, परन्तु उसे स्थूल लौकिक तल से उठा कर ऊंचे रहस्यमय सूक्ष्म अलौकिक तल पर स्थिर कर दिया गया है। सब ले-देकर जयदेव का काव्य भक्ति काव्य ही माना जाना चाहिये।

विद्यापति ने प्रेरणा जयदेव से ली, परन्तु कृष्णकथा का मौलिक प्रवर्त्तन किया। उसे निश्चित रूप से शृङ्गार काव्य सम्भूत पूर्वराग, मिलन, मान, मानमोचन, दूती, विरह, पुनर्मिलन के प्रकरणों पर स्थापित किया। भक्ति शृङ्गार के नीचे दब गई। सम्भव है, वह अधिक मात्रा में थी भी नहीं। परन्तु विद्यापति को ही यह श्रेय है कि उन्होंने पहली बार कृष्ण राधा का रीतशास्त्र की शृङ्गार पद्धति से सम्बन्ध जोड़ा। पुराणों में कृष्ण-राधा का विलास-वर्णन मिलेगा परन्तु एक 'गर्ग-संहिता' के 'पूर्वराग' के प्रसङ्ग को छोड़कर वह क्रम कहीं नहीं मिलेगा जो विद्यापति ने अपने काव्य के लिए खोज निकाला। विद्यापति के पद व्रज-भूमि में भी प्रचलित हो गये और इसमें सन्देह नहीं कि सूरदास उनसे परिचित थे परन्तु उन्होंने बहुत से रूपकों की सृष्टि कर कृष्ण कथा के लिए अपना एक स्वतन्त्र ढाँचा खड़ा किया जिसमें रीति पद्धति की उपेक्षा की गई थी और कथा के स्वाभाविक विकास और उससे भी अधिक रूपकों की पुष्टि पर ध्यान दिया गया था। फिर भी खण्डिता, हिंडौल, जलविहार आदि रूपकों के अन्तर्गत रीति-शास्त्र की बहुत-सी सामग्री स्वतः ही आ गई, सूरदास लाचार थे।

रीति-कवियों के सामने विद्यापति और सूरदास दोनों थे, यही नहीं अष्टछाप की प्रचुर सामग्री थी, परंतु उन्होंने उनमें से किसी की सामग्री को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। उन्होंने राधा-कृष्ण का जो रूप अपने सामने रखा वह उस रूप से मिलता था जो विद्यापति ने उपस्थित किया, परंतु वह न ऐसा निश्चित था, न ऐसा सुगठित था जैसा विद्यापति के काव्य में उतरता है। उन्होंने साधारण नायक नायिकाओं के अनेक प्रसंगों का कृष्ण - राधा पर आरोप कर दिया और इस प्रकार समालोचकों के लिए एक समस्या उत्पन्न कर दी। एक पद में नायक-नायिका का मान है, कृष्ण-राधा का कोई संकेत नहीं; दूसरे पद में कृष्ण-राधा का वाग्विनोद है, इसे कृष्ण

काव्य कहा जाय या रीति काव्य ? स्वतंत्र ग्रंथों में ही नहीं, लक्षण-ग्रन्थों में भी जो उदाहरण हैं, उनमें भी यही समस्या मिलती है। उन्होंने (रीति-कवियों ने) दान-लीला, हिंडोला आदि प्रसग सूरदास प्रभृति कवियों के काव्य के लिए, परंतु लीला प्रसंग में भो बहुत से प्रसग अपनी ओर से जोड़ दिये हैं ; जैसे—

डिगत पानि डिगलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल
कंपि किसोरी दासि कै खरैं लजाने बाल

(बिहारी)

विपरीत रति, पुष्प-समर, राधा-विरह, गोपी विरह, रास आदि के कितने ही प्रसंग रीति काव्य का विशिष्ट अंग हैं और इनके लिए रीति काव्य निश्चय ही हिंदी भक्ति काव्य का ऋणी है। शृङ्गार का जो अंश इस साहित्य में था वह सहज ही रीति काव्य में आ गया है।

कृष्ण-भक्ति काव्य ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में ही देखा था यद्यपि उसमें वह ऊहात्मकता नहीं चली थी जो रीतिकाव्य में दिखलाई पड़ती है। कारण यह है कि कृष्ण-काव्य का एक निश्चित आधार था। रीति काव्य उड़ा-उड़ा फिरता था। जहाँ से अपनी प्रकृति से मिलती-जुलती चीजें मिलीं, उसने लीं। प्रकृति चित्रण की अपनी विशिष्ट शैलियाँ उसने दूसरे स्थानो से लीं, परंतु उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण का जो प्रयोग कृष्ण-काव्य में हुआ, उससे वह परिचित था।

भक्ति और वैराग्य संबन्धी अनेक धारणाओं और शैलियों के लिये भी रीति काव्य कृष्ण काव्य का ऋणी है, जैसे बिहारी की यह भावना—

मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस को जीतै जदुराज
अपनैं अपनैं विरद की दुहूँ निबाहन लाज

परंतु इन्हें भक्ति काव्य का ही Projection समझना चाहिये। रीति काव्य की मूल प्रवृत्ति से ये अपरिचित हैं।

संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों का प्रभाव भक्ति काव्य पर ही बहुत कुछ पड़ चुका था। विद्यापति काव्य प्रकाश से भली-भाँति परिचित हैं। उनके लिए काव्य प्रकाश की एक टीका की प्रतिलिपि कराई गई थी। कदाचित् राधा के सद्यःस्नाता रूप के चित्रण के लिए प्रेरणा उन्हीं काव्य प्रकाश से ही हुई। रीति काव्य में संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर जब रीतिग्रन्थ लिखे जाने लगे तो यह असंभव था कि कवि लक्षणों तक ही सीमित रहते। संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों में उदाहरण-स्वरूप जो सामग्री थी उसने भी उन्हें प्रभावित किया। जिन लक्षण-ग्रन्थों ने रीति काव्य को प्रभावित किया वे हैंध्वन्यालोक (आनंदवर्धनाचार्य), काव्य-मीमांसा (राजशेखर), काव्य प्रकाश (मम्मट), साहित्य दर्पण (विश्वनाथ) और कुवलयानंद (अप्पय दीक्षित)। आनन्द वर्धनाचार्य ने कह ही दिया था—

दृष्ट पूर्वा अप्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात्।
सर्वेन वा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमः॥

फिर क्या था, कवियों ने उनकी तथा पिछले कितने ही संस्कृत कवियों की सामग्री को हिन्दी में ढालना आरम्भ किया, परंतु आनन्दवर्धनाचार्य ने केवल "छाया—" ग्रहण के कवियों को स्वंतत्रता दी थी, फिर यह आवश्यक बना दिया था कि वह नूतन स्फुरण एवं चमत्कार के साथ हो—

यदपि तदपि रम्य यत्र लोकस्य किंचित्

स्फुटित मिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु ताहक्
सुकवि रूप निबध्नन् निन्द्यता नोपिनाति ॥

इस बात को भुला दिया गया ।

इन रीति ग्रन्थों में उदाहरण के रूप में जिन कवियों की रचनायें रखी गई थीं, उनकी ओर हिन्दी के लक्षण ग्रन्थकारों और कवियो का ध्यान जाना अस्वाभाविक बात नहीं थी । ये थे गाथासप्तशती, अमरुक-शतक, आर्या सप्तशती, कालिदास, माघ आदि । इन सभी का हिन्दी रीति काव्य पर अमिट प्रभाव पड़ा है । 'सप्तशतियों' ने 'सतसई' का आविर्भाव किया । अन्य मुक्तकों (कवित्त, सवैया आदि) पर भी इनका कम प्रभाव नहीं पड़ा । विहारी सतसई में पिछली दोनों सतसइयों और अमरुकशतक के कितने ही भाव छाया-रूप में ग्रहण कर लिये गये हैं और शैली, ध्वनि, व्यंजना आदि की दृष्टि से इन्हीं रचनाओं को आदर्श मान कर चला गया है । विहरी का प्रसिद्ध दोहा-

नहिं पराग नहिं मधुर रस नहिं विकास इहि काल
अली कली ही तें बँध्यो आगे कौन हवाल

आर्या सप्तशती के निम्नलिखित दोहे का ही अधिक उत्कृष्ट रूपान्तर है—

पिब मधुप ! बकुल कलिकां,
दूरं रसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधर विलेप्य समाप्ये मधुनि
मुधा वदनमर्पयसि ॥ ३९७॥

यद्यपि विशेष परिस्थिति के कारण इसमें काव्य की मात्रा विशेष हो गई है । अन्य कितने दोहों के संबंध में यही बात कही जा सकती है—

तीज परब सौतिन सजे भूषन बसन शरीर।
सबै मरगजै मुँह करी वहै मरगजै चीर ॥ ३३ ॥
हल्लफल ह्वण पसाहि आणँ क्षण वासरे सवत्तीणम् ॥
अज्जाएँ भज्जाणाण अरेण कहिअं वं मोहग्गम् ॥

(गाथा १।७९)

कंजनयनि मज्जन किये बैठी ब्यौरति बार।
कच अंगुरिन बिच दीठि दै चितवति नंदकुमार ॥
चिकुरविसारणतिर्यहनत कण्ठी विमुख वृत्तिरपि बाला।
त्वामिय मङ्गुलि कल्पित कचावकाशा विलोकयति ॥

(आर्या, २३१)

मोर चंद्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करत गुमान
लखबी पायकि पर लुठति सुनियत राधा मान
मधुमथन मौलिमाले सरिप तलयसि तुलसि किं मुधाराधाम् ॥
मत्तव पदमद सीयं सुरभियितु मौर भोद्भेद: ॥

(वही, ४३१)

मैं मिसहा सौचौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिंग जाय।
हँस्यौ खिसानौ गर गह्यौ रही गरै लपटाय ॥
शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै—
निंदा व्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

(अमरुक शतक ८२)

इस प्रकार खोज करने पर कितने ही संस्कृत मुक्तकों में ऐसे दोहे मिल जाते हैं जिनको विहारी ने अवश्य ध्यान में रखा है। इस प्रकार विहारी के माध्यम द्वारा संस्कृत मुक्तक साहित्य का एक बड़ा भाग हिन्दी रीति काव्य का अंग हो गया। बाद के कवियों ने उन्हीं की सतसई को आधार बनाया, उन्हें संस्कृत अथवा प्राकृत ग्रन्थों तक पहुँचने का कष्ट नहीं करना पड़ा। कम से कम उत्तर-रीति कालीन कवियों ने संस्कृत ग्रन्थों का आश्रय अधिक नहीं लिया। वे अपने पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों को आदर्श मान कर चले। वास्तव में विरह वर्णन और प्रकृति वर्णन के संबंध में तो एक विशिष्ट शैली ही बध गई थी। विशेष कुछ करना-धरना था ही नहीं। कवियों ने निश्चित पगदंडी पर ही चलना सरल समझा। वे लोक छोड़ कर नहीं बढ़े। परंतु हमें यह भी याद रखना चाहिये कि उक्त दोनों विषयों में जो रीति प्रथा रीति-काव्य के पूर्ववर्ती कवियों ने चलाई, वह स्वयम् संस्कृत कवियों की 'उच्छिष्ट' चीज़ थी। विरह-वर्णन में कृशता और ताप का कथन बहुत पहले से चला आता था। विरह-वर्णन के संबंध में विल्हण लिखते हैं—

आता बथा तानव भङ्ग य ष्ट —
— स्त्वद्विप्रयोगेण करङ्ग दृष्टे :
धत्ते गृहस्तम्भानि वर्त्तितेन
कम्य यथा श्वास समीर णेन।

विरह ताप के संबंध में हर्ष लिखते हैं—

दुहनजा न पृथुर्द वथुव्यथा
विरह जैव पृथुर्यदि नेहशम्।
दहन मात्तु विशन्ति कथं स्त्रिय :
प्रियमपासुमुपासितुमद्धुराः॥

इसी तरह कटि की सूक्ष्मता पर संस्कृत के काव्य में बहुत कुछ कहा

जा चुका था। पं० जगन्नाथ ने कमर की सूक्ष्मता समझाने के लिए शून्यवाद का आश्रय लिया था—

अनल्पै र्वादोन्दैर् गणित महायुक्ति निवहै—
निरस्ता विस्तारे क्वचिद् कलवंतो ऽनुयपि
असत्ख्याति-व्याख्याधिकं चतुरिमाख्यात महिमा
ऽवलग्नेयं युगतमत सिद्धान्त सरणि।

विहारी ने भी उसे "सूक्ष्म कटि पर ब्रह्म लरैं" कह दिया।

प्रकृति वर्णन के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह पता चलता है कि कालिदास के समय में ही उद्दीपन के रूप में प्रकृति वर्णन को अधिक श्रेय मिलने लगा था और वस्तुवर्णन बहुत कम हो गया था। धीरे-धीरे षट्ऋतुवर्णन का विकास हुआ। इसे "उद्दीपन काव्य" भी कह सकते हैं। हिन्दी में आरम्भ से ही उद्दीपन रूप में स्वतंत्र वर्णन 'षट्ऋतु' और 'बारहमासे' के रूप में लिखे जाने लगे। रीति कवियों ने इन्हें अन्यतम कोटि तक पहुँचा दिया। सारी प्रकृति, सारी ऋतुएँ उद्दीपन-मात्र। इस षट्ऋतु और बारहमासे की बंधी परम्परा के बाहर भी बहुत लिखा गया, परंतु जो लिखा गया उसका ध्येय प्रकृति निरूपण के स्थान पर अलंकार पांडित्य प्रदर्शन ही अधिक था। इस प्रकार का चित्रण तो आदि कवि में चद्रोपालंभ (सुन्दरकांड) के प्रकरण में भी मिलता है, परन्तु बाद के संस्कृत काव्य में तो चंद्रोपालम्भ और इसी प्रकार के असंयत, अहात्मक कथनों की भरमार है। पं० जगन्नाथ के 'भामिनी-विलास' के एक छंद में चंद्रोदय को देख कर कवि (विरही) कहता है—अंगारों की तरह तीक्ष्ण किरणों से भूमडल को भस्म करता हुआ यह तो प्रचंड मार्तण्ड निकल रहा है। कौन पशु इसे चद्रमा कहता है? इसमें जो श्यामता दीखती है, वह शशलांछन नहीं है किन्तु रणभूमि में सम्मुख लड़कर

मरे हुए वीरों के द्वारा फटे हुए मध्यभाग से आकाश की नीलिमा चमक रही है। श्लेष के लिए आकाश-पाताल ढूँढ़े जाने लगे और उन श्लिष्ट शब्दों के बल पर प्रकृति चित्रण किया जाने लगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी रीति काव्य ने संस्कृत काव्य से बहुत कुछ उधार लिया। यही नहीं, उसने अपभ्रंश और प्राकृत से भी बहुत कुछ लिया। प्राकृत की गाथा-सतसई की बात हम कह चुके हैं। अपभ्रंश का भी ऋण है। 'दोहा' (दोधक, दोहत्र, दूहा) का पहला परिचय हमें यहीं होता है और बहुत से शृङ्गार-परक दोहे मिलते हैं। हेमचंद के व्याकरण में इसी प्रकार के दोहे संग्रहीत हैं। इनके अध्ययन से पता चलता है कि सातवाहन की गाथा सप्तशती की एक परम्परा प्राकृत और अपभ्रंश में बराबर चलती रही। यही नहीं कहा जाता कि इससे रीति-कालीन कवि कितने परिचित थे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि रीति-काल में, जाने या अनजाने, यही परम्परा विकसित हुई।

परंतु रीतिकाव्य केवल प्रेम और विलास तक सीमित नहीं है। उसने अनेक विषय अपनाये और अनेक प्रवृत्तियाँ उसमें विकसित हुई हैं। इस दृष्टिकोण से हम रीतिकाव्य के कई भाग कर सकते हैं—

१. लक्षण ग्रन्थ और उनमें उदाहरण के रूप में आने वाला काव्य।

२. मुक्तक काव्य जिस पर अलक्षित रूप से संस्कृत साहित्य का प्रभाव था।

३. अनुभूतिपूर्ण मुक्तक काव्य।

४. अन्य रचनाएँ।

(क) प्रशास्तियाँ

(ख) भक्ति-समन्वित रचनाएँ

(ग) नीति-सम्बन्धी रचनाएँ

(घ) कथात्मक काव्य

(ङ) प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ

इस सूची से हमें मध्ययुग की प्रवृत्तियों का भी परिचय मिल जाता है। इस समय गौण धाराए थीं—भक्ति, नीति, वीरकाव्य (प्रशस्ति काव्य), कथा प्रेम, प्रकृति। प्रकृति अधिकांश तो उद्दीपन के रूप में ग्रहण हुई परन्तु 'सेनापति' के काव्य में कुछ अनुभूति-पूर्ण वर्णन भी मिल जाते हैं। यह ध्यान योग्य है कि अधिकांश रीति काव्य उन कवियों द्वारा रचा गया जो राजाश्रय में रहते थे, या स्वतंत्र रह कर भी राजाश्रय प्राप्त करना अपना ध्येय समझते थे। राज-पंडित और राजकवि के रूप में सम्मान प्राप्त करना ही उस समय कवियों का लक्ष्य हो गया था। अतः रीतिकाव्य पण्डितों, राजाओं और विलासप्रिय अमीरो में विकसित हुआ। इसी से इस काव्य में चमत्कार प्रियता और पांडित्य प्रदर्शन की प्रधानता। राजाश्रय में प्रिय कविता की कुछ अपनी विशेषतायें होती हैं।

१ —पांडित्य

२—चमत्कार प्रियता

३ —काव्य रूढ़ियां और साहित्य की मान्यताओं का अक्षरशः पालन

४—प्रेम और विलास

५ —कला प्रियता, जिसका अर्थ है भाव पक्ष की उपेक्षा और अलंकार, छन्द और भाषा की पुष्टि की ओर अधिक ध्यान। इस प्रकार की विशेषताएँ हमें रीतिकाव्य में पूर्णतः मिल जाती हैं। वह अपने युग का उसी तरह प्रतिनिधि काव्य है जिस तरह भक्ति काव्य सूरदास और तुलसीदास के युग का।

८

भारतेन्दु युग की कविता

तुलसीदास और बनारसीदास (१६४३) की कुछ कविताओं को छोड़ कर अधिकांश कवियों की कविताओं में सामयिक घटनाओं और परिस्थितियों के चित्र नहीं मिलते। सच तो यह है कि हमारे कवियों और साहित्यकारों ने सदा ही सामयिक जीवन की उपेक्षा की है। इसका कारण यह रहा है कि हमारे कवियों और साहित्यकारों ने सदा ही सामयिक जीवन की उपेक्षा की है। इसका कारण यह रहा है कि हमारा अधिकांश साहित्य धर्म-चेतना या काव्य परम्परा से प्रभावित रहा है। एक ओर सिद्धों, नाथों और सन्तों का काव्य है, दूसरी ओर राम-कृष्ण भक्त कवियों का। यह दोनों ही वैराग्य मूलक हैं। अतः इनमें इधर-उधर कुछ उक्तियों को छोड़ कर सामयिक जीवन के नाम पर कुछ भी नहीं मिलता। रीति काल के कवियों ने जीवन को साहित्य के माध्यम से देखा ; अतः सामयिक जीवन की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। वे केवल प्रशस्ति काव्यों तक ही सीमित रहीं जिनमें अतिशयोक्ति की ही प्रधानता थी।

यह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के काव्य की विशेषता है कि उसमें परम्परागत साहित्य-धाराओं पर रचना होने के साथ-साथ एक नई प्रकार की कविताओं का भी श्रीगणेश हुआ। जैसे-

(१) जनकविता—जनगीतों के अनुकरण में लिखी कविता।

(२) सामयिक कविता—सामयिक जीवन और मनोवृत्तियों पर प्रकाश डालने वाली कविताएँ।

(३) राष्ट्रीय कविता—देशभक्ति से अनुप्राणित कविताएँ, जिनमें देश-दशा पर रुदन किया गया है और उत्साहप्रद जागरण-गीत गाये गये हैं। साथ ही इतिहास के पुराने गौरवशाली पृष्ठ भी कविता के लिए उलटे गये हैं।

इन तीनों श्रेणियों का कविता की कोई परंपरा न थी। इससे उनके जन्मदाताओं को और भी अधिक श्रेय मिलना चाहिये। काव्य की पुरानी धाराओं के समकक्ष इन नवीन धाराओं की प्रतिष्ठा सरल काम नहीं था। जहाँ प्राचीन काव्य के मूल में पलायन की प्रवृत्ति है, वहाँ यह नवीन काव्य अपने समय के सारे जीवन को समेट कर चला है और उसने काव्य की भाषा, प्रतीक, शैली, विषय सभी में क्रांति उपस्थित की है। इस नये काव्य के आदि कवि और नेता भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) थे।

मई १८७६ की 'कविवचनसुधा' में भारतेन्दु ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की थी। उसमें उन्होंने सामयिक जीवन के कई पहलुओं पर कविता रचने के लिए कवियों को निमंत्रित किया है, वे लिखते हैं—"भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाशित होते हैं, किन्तु वे जनसाधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव-गाँव में, साधारण लोगों में प्रचारित की जायं। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलता है और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुन कर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत

फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है।" आगे चलकर उन्होंने इन ग्रामगीतों के विषय भी दिये हैं--'बालविवाह से हानि, जन्मपत्र मिलाने की अशास्त्रता, बालकों की शिक्षा, अंगरेज़ी फैशन से शराब की आदत, भ्रूणहत्या, फूट और बैर, बहुजातित्व और बहुभक्तित्व, जन्मभूमि से स्नेह और उसके सुधारने की आवश्यकता का वर्णन, स्वदेशी—हिन्दुस्तान की वस्तु हिन्दुस्तानियों को व्यवहार करना—इसकी आवश्यकता, इसके गुण, इसके न होने से हानि का वर्णन इत्यादि।

भारतेन्दु क्रांतिद्रष्टा थे। उनका जन्म उस सुधारक युग में हुआ था जब कुरीतियों के परिहार की बात प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति के रोम-रोम में व्याप्त हो रही थी। उनकी दृष्टि देश के उस भाग पर गई जिस पर उन्नति का श्रेय था। यह भाग था ग्रामीण जनता का। उस तक केवल 'लोक-गीत' द्वारा पहुँचा जा सकता था। शृङ्गार और हास्य के गीत तो प्रचलित ही थे। भारतेन्दु की इस विज्ञप्ति से पता चलता है कि वे शृङ्गार और हास्य को भी कविता का विषय बनाना चाहते थे जिससे ग्रामीण जनता का मनोरञ्जन हो सके, और कुनैन की कड़वी गोलियों पर 'मीठा' चढ़ जावे। परन्तु शिक्षा और समाज-सुधार उनका लक्ष्य था उन्होंने समाज तक ही अपनी दृष्टि को सीमित नहीं किया था—स्वदेशी, अदालत, स्वदेश, जन्मभूमि सुधारने की आवश्यकता राष्ट्रीय और राजनैतिक विषय थे। इस प्रकार उन्होंने जीवन के समस्त क्षेत्रों पर दृष्टि दौड़ाई थी। धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन विशेष लक्ष्य थे।

सन् १८५७ ई० के विद्रोह के बाद कम्पनी की निरंकुशता और स्वेच्छाचारी शासन का अंत हुआ और शासन सूत्र महारानी विक्टोरिया के हाथ आया। इस वर्ष के अंत में गंगा-जमुना के संगम (प्रयाग) पर महारानी का घोषणापत्र पढ़ा गया जिसमें आश्वासन

दिया गया कि लोगों के धर्म पर किसी प्रकार का आघात नहीं किया जायगा। इस सहृदयतापूर्ण घोषणापत्र ने लोगों के हृदयों में कृतज्ञता के भाव भर दिये और उनकी वाणी गद्गद् होकर कवियों के कंठ से फूट निकली। १८६६ ई० तक लोग महारानी के राज को रामराज्य समझते रहे। विद्रोह के बाद किसानों के लिये 'बन्दोबस्त' हुआ। उसमें इतना ऊँचा लगान कूता गया कि कृषकों के पास उसे देने के बाद कुछ भी नहीं बचता था। दैवयोग से १८६६ ई० में अकाल पड़ा। इसमें २० लाख के लगभग जन-हानि हुई। लोग आश्चर्य से आकाश तकने लगे। यह कैसा रामराज्य! कवि लोग समझते थे कि अधिकारियों से प्रार्थना करने पर सब कुछ हो जायगा, परन्तु वहाँ ज़रा भी सुनवाई नहीं हुई। इससे लोगों के मन में पहली बार विदेशी सरकार की छलना का उदय हुआ। अब तक हमारे कवियों ने राज-भक्ति और देश-भक्ति को साम्यवाची माना था, अब उनकी रचनाओं में राजभक्ति और देशभक्ति का द्वन्द चलने लगा। १८६६ में मंदी का ज़माना आया और १८६८–१८६६ में फिर अकाल पड़ा।

इन सब सामयिक घटनाओं का प्रतिबिम्ब सामयिक साहित्य में मिलता है। अब तक लोग अमर साहित्य की ही रचना करते थे, परंतु अब ऐसा साहित्य भी रचा जाने लगा जिसका उद्देश्य उपयोगिता था। 'पत्र' इस साहित्य के प्रकाशन के प्रधान साधन थे। अबतक प्रतिदिन की घटनाओं की आलोचना करने के लिये कवियों के पास कोई साधन न था। अब एक प्रभावशाली साधन हाथ लग गया था। इसलिए बहुत कुछ सामयिक कविता पत्रों में प्रतिदिन प्रकाशित हुई। इस प्रकार की कविता का उर्दू-पत्र साहित्य में अभाव है। इससे हिन्दी की समयानुकूलता, युग-परिवर्तनक्षमता और महानता स्पष्ट है। भारतेन्दु उन लोगों में थे जिन्होंने इस सामयिक कविता का निर्माण किया, इसके लिए आन्दोलन किया इस प्रकार

की रचनाओं को प्रकाशित करके कवियों को प्रोत्साहित किया। उन्होंने सामयिक जीवन के प्रति संदेह की दृष्टि दौड़ाई, उनमें असंतोष प्रकट किया और जनता के शतयुगजीवी कुसंस्कारों के विरुद्ध मोर्चा लिया। उनकी कविता में उनके युग के गद्य के सारे उपादान मिलते हैं और उन्होंने खड्ग की भाँति उनका प्रयोग किया है। पिछले कवियों की भाँति भारतेन्दु और उनकी मण्डली के कवियों ने अपने चारों ओर के जीवन से आँखें नहीं मूँदी थीं, न नायिका-भेद से उसे संकुचित ही किया है। भारतेन्दु ने ११ वर्ष की अवस्था में जगन्नाथपुरी की यात्रा की थी और "तहक़ीकात पुरी की तहक़ीकात" लिखकर इतनी छोटी आयु में भी अपनी जिज्ञासु, प्राचीनता के प्रति संशयालु और बलवती प्रकृति का परिचय दिया था। १२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने सारे उत्तर भारत की यात्रा कर डाली। इन यात्राओं में उन्होंने देश की भयंकर निर्धनता, भीषण परंपरा-प्रियता का परिचय पाया। उनके नागरिक संस्कार उन्हें व्यंग लगे। उन्होंने देखा कि गाँवों की संस्कृति को साहित्य का रूप देकर ही वह नागरिकों की सेवा कर सकते हैं। बाद की परिस्थितियों ने भी लोगों का ध्यान गाँवों की ओर किया। जनता की भाषा, जनता का रोष, जनता का व्यङ्ग—उस युग की कविता में सजीव हो उठे हैं!

भारतेन्दु ने कितनी ही ऐसी कविताएँ लिखी हैं जो उन्हें राज-भक्त के रूप में प्रगट करती हैं, जैसे विक्टोरिया के पति की मृत्यु पर स्वर्गवासी श्री अलबरत वर्णन अंतर्लिपिका (१८६१), ड्यूक ऑव ऐडिनबरा के १८६६ में भारतागमन के अवसर पर श्री राजकुमार सुस्वागतपत्र, सन् १८६६ में उनके काशी में आने के अवसर पर कवित्त (१० मार्च, १८७०), सन् १८७१ ई० के नवम्बर में टाइफाइड (विषम ज्वर) के कारण श्रीमान् प्रिन्स आफ वेल्स के पीड़ित होने पर कवित्त (१८७१)। सन् १८७५ ई० में युवराज प्रिंस आफ़ वेल्स (एडवर्ड सप्तम)

के भारत में आगमन पर लिखी गई "राजकुमार शुभागमन वर्णन" (१८७५), मानसोपासन (१ जनवरी, १८७७) ; परंतु अंतिम कविताओं में यद्यपि उनकी राजभक्ति वैसी ही बनी है, वे स्थानीय कर्मचारियों से क्षुब्ध हैं। 'मानसोपासन' में उन्होंने लिखा है –"प्रिय, हम सब स्वभाव-सिद्ध राजभक्त हैं। बेचारे छोटे पद के अङ्गरेज़ों को हमारे चित्त की क्या ख़बर है, अपनी ही तीन छटाँक पकाना जानते हैं। अतएव दोनों प्रजा एकरस नहीं हो जातीं ; आप दूर बसे, हमारा जी कोई देखने वाला नहीं, बस छुट्टी हुई। आपके आगमन के केवल स्मरण से हृदय गद्गद् और नेत्र अश्रुपूर्ण हमीं लोगों के हो जाते हैं और सहज में आप पर प्राण न्यौछावर करने वाले हमीं लोग हैं, क्योंकि राजभक्ति भारतखंड की मिट्टी का सहज गुण और कर्तव्य धर्म है, पर कोई कलेजा खोल कर देखनेवाला नहीं।" १८७५ ई० में भारतेन्दु ने 'भारतशिक्षा' कविता लिखी है जिसमें राजकुमार का स्वागत है। कविता हेमचंद्र बनर्जी की कविता की छाया लेकर लिखी गई है। इसमें "भारत-जननी" अकुला कर आँसुओं से भीगती आती है और शोक प्रगट करती है। कविता के अंत में—

बजे बृटिश डंका सघन गह गह शब्द अपार
जय रानी विक्टोरिया जो जुव राजकुमार

गर्वपूर्ण ढङ्ग से लिखा गया है। १८७८ ई० में अफ़गान-युद्ध छिड़ने पर इस कविता के कुछ पद लेकर और बहुत से और पद मिला कर 'भारत-वीरत्व' की रचना हुई। कवि गर्व से "भारत सैन पयान" की बात कहता है और ब्रिटिश राज्य की प्रशस्ति में बहुत कुछ लिखता है। १८८१ ई० में अफ़गान-युद्ध की समाप्ति पर उन्होंने 'विजयवल्लरी' कविता लिखी और मिश्र-युद्ध की समाप्ति पर अगले वर्ष (१८८२) 'विजयिनी विजय पताका या वैजयंती'। 'विजयवल्लरी' में कवि लोगों के उल्लास पर कहता है—

कहा भूमिकर उठि गयौ कै टिकस भो माफ़
जन साधारण का भयो किधौं सिविल पथ साफ़
नाटक अस उपदेश पुनि समाचार के पत्र
कारागार भए कहा जो अनन्द अति अत्र

कविता के अंत में असंतोष स्पष्ट है--

भारत कोष विनास को हिय अति ही अकुलाय
ईति भीति दुस्काल सों पीड़ित कर को सोग
ताहू पै धन नास को यह विनु काज कुयोग
रटै चो डिजरैली लिटन चितय नीति के जाल
फँसि भारत जर-जर भयो काबुल युद्ध अकाल

इत्यादि

सन् १८००-१८८४ में भारत के लाट मारक्विस ऑव रिपन के समय में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट (१८८०) तोड़ा गया, मैसूर का राज्य प्राचीन राजवंश को सौंपा गया (१८८१), अफ़गान-युद्ध इन्हीं के समय में समाप्त हुआ, और इलबर्ट बिल एवं स्थानीय स्वराज्य-संबंधी ऐक्ट क़ायम हुए। इनके शासन को 'रिपनाष्टक' (१८८४) लिख कर भारतेन्दु ने श्रद्धाञ्जलि दी। परन्तु यह स्पष्ट है कि वे अंत समय अंग्रेज़ी राजनीति की शतरंजी चालों को समझ गए हैं। 'नये ज़माने की मुकरी' (१८८४) में उन्होंने लिखा है—

भीतर भीतर सब रस चूसै,
हँसि हँसि के तन मन धन मूसै,
जाहिर बातिन में अति तेज़,
कह सखि साजन ना अँग्रेज़।
इनकी उनकी ख़िदमत करो,
रुपया देते देते मरो,

तब आवै मोहि करन खराब,
क्यों सखि साजन नहीं खिताब।
धन लेकर कुछ काम न आवै,
ऊँची नीची राह दिखावै,
समय पड़े पर सीधे मुंगी,
क्यों सखि साजन नहिं सखि चुंगी।
मतलब ही की बोले बात,
राखे सदा काम की घात,
डोलै पहिने सुन्दर शमला,
क्यों सखि साजन नहिं सखि अमला।

जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, भारतेन्दु के काव्य में उत्कृष्ट देशभक्ति और सच्ची राष्ट्रीयता की झलक मिलती है। लोग यह भूल जाते हैं कि राष्ट्रीयता के मूल प्रवर्त्तकों में उनका कितना महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने भारत के पिछले इतिहास को पहली बार कवि के रूप में देखा है। जयचन्द के प्रति वे कहते हैं –

काहे तू चौका लगाय जयचँदवा
अपने स्वारथ भूलि लुभाये काहे चोटी कटवा बुलाए जय०
अपने हाथ से अपने कुलकै काढ़े तें जडुवा कटाए जय०
फूट कै फल सब भारत बोय बैरी के राह खुलाये जय०
और नाभि तैं आयो बिलानै निज भुज कजरी पुताये जय०
(वर्षाविनोद, ५०)

सोमनाथ (महादेव) के मन्दिर टूटने के समय गौरा (पार्वती) का उद्बोधन और हिन्दुओं की कम-हिम्मती देखिए—

टूटैं सोमनाथ के मंदिर, केहू लागै न गोहार
दौरौ दौरौ हिन्दू हो सब गोरा करै पुकार

की केंहू हिन्दू कै जनमल नाहीं की जरि मैलैं छार
की सब आज धरम तजि दिहलैं यै तरुक सबै इकबार
केहू लगत गोहार न गोरा रोयें जार बेजार
अब जग हिन्दू केहू नाहीं झूठै नामैं के बेवहार

(वही, ५१)

परंतु वह प्राचीन गौरवगाथा भी नहीं भूले हैं--

धन धन भारत के सब क्षत्री जिनको सुजस धुजा फहराय
मारि मारि के सत्रु दिए हैं लाखन बेर भगाय
महानन्द की फौज सुनत ही डरे सिकंदर राय
राजा चंद्रगुप्त लै आए बेटी सिल्यूकस की ब्याय
मारि बलूचिन विक्रम रहे शकारी पदवी पाय
बापा कासिम तनय मुहम्मद जीत्यौ सिंधु दियो उतराय
आयो मामू चढ़ि हिन्दुन पै चौदिस बेसा सेन चढ़ाय
खुम्मान राय तेहि बाप सार लखि सब विधि दियो हराय
लाहोर राजा जयपाल कोप्यो चढ़ि खुरासान पर धाय
दिनों प्रान आनंदपाल पर छाँड्यों देस धरम नहिं जाय

(वही, ५१)

स्वयं अपने समय में पूर्वी पश्चिमी सभ्यता के संघात को उन्होंने भली भाँति पहचाना है--

भारत में ऐहि समय भई है,
सब कुछ बिनहि पयान हो दुइरंगी।
आधे पुराने पुरानहिं मान,
आधे भए किरिस्तान हो दुइरंगी।
क्या तो गदहा को चना चढ़ावै,
कि होइ दयानंद जाय हो दुइरंगी॥

क्या तो पढ़े कैथी को कियजिनै
कि कोई बरिस्टर धाय हो दुइरंगी ॥
एही से भारत नाम भया,
मत जहाँ यही हाल हो दुइरंगी ॥
होउ एकमत भाई सबै अब,
छोड़हु चाल कुचाल हो दुइरंगी ॥
(वही, ४३)

"प्रबोधिनी" में भगवान् को जगाने के लिए जो शृङ्गारिक पद हैं, उनके अंत में वे भारत की दुर्दशा की याद बड़ी मार्मिकता से दिलाना नहीं भूले हैं—

डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो।
आलस दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो ॥
महामूढ़ता वायु बढ़ावन तेहि अनुरागो।
कृपा दृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो ॥
अपुनो अपुनायो जानि कै करहु कृपा गिरिवर धारन।
जागो बलि बेगहि नाथ अब देहु दीन हिन्दुन सरन ॥ १७ ॥

उनकी राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता थी, यह उनके "कर्पूरमंजरी" (नाटक के भरतवाक्य से सिद्ध है—

उन्नत चित ह्वै आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं
कपट नेह तजि सहज सत्य ब्योहार चलावैं
जवन संसरग जात दोष गन इन सों छूटै
सबै सुपथ पथ चलै नितहिं सुख सम्पति लूटै
तजि विविध देश रति कर्मयात एक भक्ति पथ सब गहै
हिय योग बली सम गुप्त हरि प्रेमधार नित ही बहै

इसीलिये उनका ध्यान "भारतमाता" (बङ्गाल) पर गया और उन्होंने उसका हिन्दी रूपांतर 'भारत जननी' नाम से किया। एक बड़ा भारी खँडहर है। एक टूटे देवालय के सहन में एक मैली साड़ी पहने, बाल खोले, भारत जननी निद्रित-सी बैठी है, भारत संतान इधर-उधर सो रहे हैं। भारत-सरस्वती आती है और इस उदासी का कारण पूछती है। कई बार जगा कर, हार कर रोती हुई जाती है। भारत-दुर्गा आती है। रोते-रोते हाथ की तलवार छोड़ कर जाती है। भारत लक्ष्मी आती है और उत्तर न पाते-पाते रोती हुई चली जाती है, तब भारतमाता की आँखें खुलती हैं और वह दुखी होती है कि लक्ष्मी किधर गई। अब यह लड़के क्या करेंगे? इनको जगा कर वृत्तांत कह दूँ। एक को उठाती है तो पहला सोता है, इसी प्रकार सबको भारतमाता ने उठाया किंतु सबके सब फिर पूर्ववत सो गये। परंतु भारत जननी साहस नहीं छोड़ती, उद्योग करती है। फलस्वरूप वे जागते हैं परंतु सोने पर तुले हैं। कैसे उन्हें उद्‌बोधन दे? वह उन्हीं के प्राचीन गौरव की कहानी कह कर धिक्कारती है। जब बालक पूछते हैं तो भारतमाता उन्हें महारानी विक्टोरिया के चरण कमलों में अपने दुःख का निवेदन करने को कहती है। वे पुकारते हैं। एक साहिब आता है और उनके इस कोलाहल के लिए भर्त्स्ना करता है, परंतु दूसरा साहब आकर उन्हें इंगलैंड-चन्द्र-लांछन कहता है और आश्वासन देता है।

इस रूपक से भारतेन्दु की राष्ट्रीय विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। वे अच्छी तरह अपने देश-वासियों की स्थिति को जानते हैं—

(१) वे राजभक्ति दिखाने के लिए भी परतंत्र हैं। "या हम लोगों की तो यहाँ तक इच्छा होती है कि सेना-विभाग में जाकर महारानी की ओर से उनके शत्रुओं से प्रथम ही युद्ध करें, और इससे अपने को प्रतिपालित करें, परन्तु वह भी तो नहीं करने पाते।"

(२) उनकी प्रार्थना पर ब्रिटिश सरकार (विक्टोरिया) कोई ध्यान नहीं देती। इस प्रार्थना पर भारत का अंग्रेज शासकवर्ग गुर्राता है। दो-चार स्वतन्त्र अंग्रेज भले ही आश्वासन देते रहें।

(३) ऐसी अवस्था में चारा क्या है--धैर्य और आत्मशुद्धि एवं एकता के लिए प्रयत्न ("अभिमान, लोभ अपमान; आत्मसम्मान, प्रशंसा, परजात निंदा, इस सबका सावधानीपूर्वक परित्याग करो, धैर्य का अवलंबन करो" × × × "धैर्य, उत्साह और ऐक्य के उपदेशों को मन में रख, इस दुखिया के दुःख दूर करने में तन-मन से तत्पर हो।")

सच तो यह है कि भारतेन्दु का हृदय देश की दुर्दशा पर व्यथित है। अनेक गीतों में भारत की मंगलाकांक्षा के लिए कवि की व्यग्रता उसके देश प्रेम की उच्चतम प्रतीक है। भारत की स्वतंत्रता और तज्जन्य दुर्व्यवस्था के प्रति भारतेन्दु का ग्लानि-भाव बड़ा गहरा है। परन्तु भारत की दुर्दशा सम्बन्धी उनके गीत अतीत के गौरवगान और वर्तमान के प्रति जागरूक उद्बोधन के कारण पराजय के गीत नहीं हैं। फिर भी हम देखते हैं कि इतने पर भी भारतेन्दु ने सरकार का सक्रिय विरोध नहीं किया। वह अंग्रेज़ राज्य के 'चिरथापहु' (चिरस्थापन) के लिए कल्याण कामना करते दिखलाई पड़ते हैं और उनकी कितनी ही सामयिक कविताओं ने देश-भक्ति में राजभक्ति का रूप ग्रहण कर लिया है। वास्तव में भारतेन्दु, 'लिबरल' थे जैसा पं० बद्री-नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भाषण में कहा है। वे एक साथ ही राजा और प्रजा के पक्षपाती थे। राजा के इसलिए कि परिस्थिति इस प्रकार की थी कि स्वतंत्र देशी राज्य अँग्रेज़ी शासकों से भी अधिक निरंकुश होकर जनता का हनन करते थे। 'विषस्य विषमौषधम्' (नाटक) के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने विदेशी राज्य को अनिवार्य परिस्थिति में विष समझ

कर ही उपयोगी माना है। सच तो यह है कि वह सदा प्रजापक्षी ही अधिक रहे। और कदाचित् अन्तिम समय तो उनका दृष्टिकोण एकदम क्रांतिकारी हो गया था। 'क्षत्रिय पत्रिका' के सम्पादक बा० रामदीनसिंह को उन्होंने एक पत्र में लिखा था--"अबकी बकरीद में भारतवर्ष के प्रायः अनेक नगरों में मुसलमानों ने प्रकाश-रूप में जो गो-वध किया है उसमें हिन्दुओं की सब प्रकार की जो मानहानि हुई है वह अकथनीय है। पॉलिसी-परतंत्र गवर्नमेंट पर हिन्दुओं की अकिंचितकरता और मुसलमानों की उग्रता भलीभाँति विदित है। यही कारण है कि जान-बूझ कर भी वह कुछ नहीं बोलती, किंतु हम लोगों को जो भारतवर्ष में हिन्दुओं के बीच में उत्पन्न हैं, ऐसे अवसर पर गवर्नमेंट के कान खोलने का उपाय अवश्य करणीय है।" (ब्रजरत्न दास, पृ० ३३०) यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु मुसलमानों के राज्य को स्वदेशी राज्य नहीं समझते थे और अंग्रेज़ राज जिस अराजकता का स्थानापन्न बना था, उसकी भीषणता भी वे जानते थे। इसी से हम उनकी कविताओं में देशभक्ति और राजभक्ति का वह मिश्रण पाते हैं जो भारतेन्दु युग के सामयिक एवं राजनीतिक काव्य की विशेषता है। १६०५ ई० के बंगभंग के आन्दोलन के बाद राज-भक्ति की आवाज़ धीमी पड़ गई थी और महायुद्ध के बाद वह लोप हो गई। परन्तु १६वीं शताब्दी तक जनता और जनता के प्रतिनिधियों का अँग्रेजी राज्य की बरकतों में अडिग विश्वास था। हाँ, अंतिम दशाब्द में महामारी, अकाल आदि भयंकर कष्टों में उन्हें सरकार और देश के स्वार्थों की विषमता का आभास अवश्य मिला था। इसीलिए हम देखते हैं कि प्रगतिशील लाटों की प्रशंसा लिखी जाती है और हम उन्हें उनकी ऐतिहासिक घटनाओं में गौरव का अनुभव करते हुए पाते हैं जिन्होंने देश के मान को बढ़ाया और उसके वीरत्व की स्थापना की। उन्होंने अफ़गान-युद्ध

की समाप्ति कर कविता लिखी, भारतीय फ़ौजों की मिश्र की विजय पर उन्होंने कीर्तिगीत गाये। इन कविताओं में अँग्रेजी राज्य के प्रति जो अडिग विश्वास झलकता है वह हमें आज अप्रगतिशील जान पड़ेगा, परन्तु उस राजभक्ति के साथ देश हितैषियता भी बंधी थी। परन्तु इन सब प्रशस्तियों के पीछे स्वीकारता का स्वर होते हुए भी असंतोष स्पष्ट है। उनकी नए ज़माने की 'मुकरी' (१८८४) में यह असंतोष अनावृत सामने आता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अभी कांग्रेस का जन्म नहीं हुआ था और राष्ट्रीय भावना बंगाल जैसे प्रगतिशील प्रांत में भी सोई हुई थी। भारतेन्दु ने जो इस जातीय, राष्ट्रीय एवं सामयिक कविता का सूत्रपात किया, वह बाद के १५ वर्षों में बहुत विकसित हुई और धीरे-धीरे उसमें असंतोष, विद्रोह और क्षोभ का रूप ग्रहण होने लगा। भारतेन्दु को काव्य की इस धारा के प्रवर्तक होने का श्रेय मिलना चाहिए। १८०० ई० के बाद हिन्दी कविता का नए ढङ्ग से संस्कार हुआ। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी इसके नेता थे। काव्य की कितनी ही नई बातें उठीं, परंतु सामयिक काव्य बहुत शीघ्र ही लोप हो गया और जन काव्य भी। लावनी, ठुमरी, मुकरी, चलते गीतों के ढङ्ग की कविता, मिश्र-काव्य (नौटंकी के ढङ्ग की कविता)—इनका स्थान संस्कृत वृत्तों ने ले लिया। भाषा में भी परिवर्तन हुआ। काव्य की भाषा गद्य की भाषा से कुछ अलग हो गई। कविता का जन-संपर्क जाता रहा। इससे वह लोक-जीवन से दूर जा पड़ी। द्विवेदी युग की कविता भारतेन्दु-युग की कविता पर नागरिक संस्कारों और पुरातनप्रियता की विजय है। उसमें वह जीवन-शक्ति नहीं जो भारतेन्दु और उनके इष्ट मित्रों की कविताओं में है। बीसवीं शताब्दी के ४५-४७ वर्ष बीतने पर आज हम फिर सामयिक कविता की आवश्यकता समझने लगे हैं और उसकी शैली और संस्कृति गढ़ने में

लगे हैं। इस क्षेत्र में हम भारतेन्दु द्वारा स्थापित परपरा को ही आगे बढ़ावेंगे।

ऊपर जो कहा गया है उससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु के साथ हिंदी कविता के विषयों और उनके प्रकाशन की शैली में क्रांति हो गई। इतिहास की दृष्टि से वर्तमान काल कुछ पहले, लगभग पलासी युद्ध से, आरम्भ हो जाता है, परंतु हिंदी कविता पर नवीन प्रभाव ग़द्दर के बाद से ही पड़ने आरम्भ हुए। इन्होंने ही कालांतर में उसका रूप बदल दिया अतः भारतेन्दु को ही वर्तमान हिंदी कविता का 'आदि कवि' होने का श्रेय मिलता है।

प्राचीन हिंदी कविता के विषय धर्म और शृङ्गार थे, नवीन हिंदी काव्य में धर्म को गौण स्थान मिला। प्राचीन कवि रस-पुष्टि पर अधिक बल देते थे, नवीन कवि भाव प्रकाशन और भाव पुष्टि को ध्यान में रखते थे। देश की नवीन परिस्थितियों ने स्वतंत्रता की भावना, देशप्रेम, समाज सुधार की भावनाओं को जन्म दिया। कविता के लिये नये विषय मिले। उसका रूप ही नया हो गया।

भारतेन्दु के समय से वर्तमान हिंदी काव्य की जो धारा बही है उसमें प्राचीन काव्यधारा की कई प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं—वैष्णव (रामकृष्णभक्ति) भक्ति, निर्गुण (संतभावना) रीति शृङ्गार भाव। परंतु साथ ही जिन नई प्रवृत्तियों का समावेश हुआ है उन्होंने इन भावनाओं को शिथिल कर रखा है। इनमें सबसे प्रधान राष्ट्रीयता, देश प्रेम अथवा स्वतंत्रता की भावना है। राष्ट्रीय वीरों का गुणगान, राष्ट्रपतन के लिए दुःख प्रकाश, समाज की अवनति के प्रति क्षोभ, कुरीतियों के परिहार के लिए अधीरता और तत्परता तथा हिन्दू हितैषियता (जातीयता) ये भारतेन्दु काल के काव्य के प्रमुख विषय हैं—

कहाँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर

चंद्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि कै थिर
कहाँ क्षत्र सब मरे जरे सब गये किते गिर
कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत है चिर
कहँ दुर्ग सैन धन बल गयो धूरहिं धूर दिखात जग
जागो अब तो खल बल दलन रच्छहु अपनो आर्य मग

(भारतेन्दु)

स्त्रीगण को शिक्षा देवें कर पतिव्रता यश लेवें
झूठी यह गुलाल की लाली धोवत ही मिटि जाय
बाल ब्याह की रीति मिटाओ रहे लाली मुख काय
विधवा विलपै नित धेनु कटैं कोउ लागत हाय गोहार नहीं

(प्रतापनारायण मिश्र)

यह समय भारतवर्ष के लिए अत्यंत संकट का समय था। देश ने हथियार डाल दिये थे। एक नई संस्कृति और सभ्यता से उसका संघर्ष चल रहा था, देश में अँग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त एक जन-समुदाय धीरे-धीरे खड़ा हो गया था। भारतीय धर्म-कर्म और संस्कृति-सभ्यता की बात को भूल कर यह नया शिक्षितवर्ग "साहब" बना जा रहा था। ऐसे समय में भारतीयता के लुप्त हो जाने का डर था। हमारे कवियों ने जहाँ समाज को उदार बनने के लिए ललकारा—

पित पति सुत करतल कमल लालित ललना लोग
पढ़ैं गुनैं सीखैं सुनैं नासैं सब जग सोग
वीर प्रसबिनी बर-बधू होइ दीनता खोय
नारी नर अरधंग की साँचहि स्वामिन होय

(भारतेन्दु)

वहाँ हिन्दुओं की मानसिक दासता पर क्षोभ भी प्रकट किया—

अँग्रेजी हम पढ़ी तऊ अँगरेज न बनिहैं
पहिर कोट-पतलून चुरुट के गर्व न तनिहैं
भारत ही में जन्म लियो भारत ही रहिहैं
भारत के ही धर्म कर्म पर विद्या गहिहैं

(अंबिकादत्त व्यास)

सबै विदेसी वस्तु नर गति रति रीति लखात
भारतीयता कछु न अब भारत में दरसात
हिन्दुस्तानी नाम सुनि अब ये सकुचि लजात
भारतीय सब वस्तु ही सों ये हाय घिनात

(प्रेमघन)

यद्यपि कवि अँग्रेज़ी शासन को अच्छा समझते थे, परंतु उन्होंने अपने समय की राजनैतिक जागृति को भी पहचाना और ब्रिटिश शासन की बड़ाई करते हुए भी दयनीय दशा के करुण चित्र रखे—

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी
ताहू पै मँहगो काल रोग विस्तारी
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई

(भारतेन्दु)

कांग्रेस की स्थापना हो जाने से (१८८५ ई०) देश में आशा का संचार हुआ और कवियों ने नवजागरण का शंखनाद किया—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज भारत दशा निशा का

समझ अंत अतिशय प्रमुदित हो तनिक जब उसने ताका
उन्नति-पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई
खगवंदेमातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई
उठो आर्य संतान सँभल मिल बस न विलम्ब लगाओ।

(प्रेमघन)

एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन कवियों का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण है। आधुनिक काव्य में प्रकृति को जैसा स्थान मिला है, वैसा पहले कभी नहीं मिला था। पं० श्रीधर पाठक की 'ऊजड़ ग्राम', 'काश्मीर-सुषमा' आदि कविताओं ने कवियों के लिए एक अभिनय क्षेत्र उपस्थित किया। उनकी कविता में पहली बार प्रकृति को काव्य में स्वतंत्र रूप से स्थान मिला। उसकी एक अपनी अलग सत्ता प्रतिष्ठित हुई। अँग्रेज़ी कवि पोप और गोल्डस्मिथ से वे विशेष रूप से प्रभावित थे। हिंदी कविता के अगले बीस वर्षों (द्विवेदी युग) के कवि उनकी प्रकृति सम्बन्धी कविताओं से बराबर प्रभावित रहे।

परवर्ती भारतेन्दु काल (१८८५-१९०८) में ये प्रवृत्तियाँ निरंतर विकसित, परिमार्जित एवं अनेक अन्य अन्तःप्रवृत्तियों से प्रभावित होती हुई अब तक चली आ रही हैं। पहले १०-१५ वर्षों में तो कोई विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं देता। परन्तु शताब्दी के अंत में पं० रामचरित उपाध्याय, 'हरिऔध' पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० रूपनारायण पांडेय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति कवियों ने भारतीयता, हिन्दू जातीयता, राष्ट्रीयता जैसे विषयों पर बहुत कुछ भारतेन्दु मंडली के ढङ्ग पर लिखा। अंतर यह रहा कि स्वावलंबन का भाव अधिक हो गया, अँग्रेज़ी राज्य का गुणगान कुछ कम हो गया, काव्य में कला का अधिक प्रवेश हो पाया।

यह स्पष्ट है कि साहित्य के नाम पर उन्नीसवीं शताब्दी के काव्य

साहित्य में अधिक नहीं हैं। इसका कारण स्पष्ट है। प्राचीन काव्य-धाराएं इस समय प्रायः शक्तिहीन हो चली थीं, अतः उनमें योग देने वाले कवि केवल परंपरा का ही पालन कर रहे थे। जो नई प्रवृत्तियाँ भारतेन्दु और उनकी मंडली के कवियों के काव्य में विकसित हुईं, वह साहित्य के भीतर से नहीं, सामयिक जीवन के भीतर से आईं। उनके विषय गद्यात्मक थे और उनमें साहित्यिकता का समावेश सचमुच एक कठिन काम था। कविता सामयिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर हो और उसमें श्रेष्ठ साहित्य के भी गुण हों, यह बात भारतेन्दु-युग के कवियों के बूते के बाहर थी। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने काव्य-विषयों के लिए जीवन के कोने ढूँढ़ने की नई परंपरा चलाई और आधुनिक काव्य का प्रवर्तन किया, परंतु वे स्थायी काव्य-सम्पत्ति बहुत कम दे सके। वास्तव में भारतेन्दु युग के अधिकांश काव्य-साहित्य को हम प्रचारात्मक कह सकते हैं।

इस प्रचारात्मक काव्य-साहित्य का मेरुदंड था राष्ट्रीय भा। १८८५ में कांग्रेस की स्थापना ने कवियों में नया भावोच्छ्वास भर दिया। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने १८८२ ई० में ही लिखा था—

हाय पंचनद, हा पानीपत।
अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत॥
हाय चितौर निलज तू भारी।
अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी॥
जा दिन तुव अधिकार नसायो।
ताही दिन किन धरनि समायो॥
रह्यो कलंक न भारत नामा।
क्यों रे तू बाराणसि धामा॥

परन्तु राष्ट्रीय भावना श्रीधर पाठक की 'हिंदी वन्दना' (१८८५) से ही आरम्भ होती है—

जय जयति स्वाधीन, हिंद
जय जयति जयति प्राचीन, हिंद
हिन्द अनूपम अगम बन, प्रेम-बेल-रस-पुंज
श्रीधर-मन-मधुकर फिरत गुंजत नित नव कुंज

'मनोविनोद' (श्रीधर पाठक), 'स्फुट कविता' (बालमुकुन्द गुप्त) और 'लोकोक्ति शतक' (प्रतापनारायण) की अनेक कविताएँ भारत के गौरव, देश की दरिद्रता और उत्साह-वर्द्धक प्रेरणाओं से भरी हुई हैं। परंतु केवल राष्ट्रीय भाव ही इन कवियों के प्रचार का विषय नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पचास वर्ष धार्मिक आन्दोलनों के वर्ष थे और स्वयं हिंदी प्रदेश में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, सनातन-धर्ममंडल, ईसाई पादरी और तबलीग़ी मुसलमानों की संस्थाएँ क्रिया-शील थीं। गोरक्षा, बालविवाह का निषेध, विधवाविवाह, अविद्या, नशेबाज़ी वर्णभेद, जुआ, स्त्रियों की दुर्दशा, विवाहों के अवसरों पर अपव्यय इत्यादि, इत्यादि न जाने कितने समाजी विषय काव्य का रूप धारण करके सामने आये। यह आश्चर्य की बात है कि काव्य में यह नई परंपरा कैसे चल पड़ी। संभवतः इसका जन्म लोकगीतों और जनकाव्यों के अनुकरण में हुआ। कवियों ने हिंदीकविता के इतिहास में पहली बार अपने चारों तरफ खुली आँखों से देखा और काव्य के कलश से नीचे उतर कर वह भाँति-भाँति के सामाजिक और राज-नैतिक बन्धनों में बँधे जन-समुदाय के पास खड़े हो गये। द्विवेदीयुग में सामयिक काव्य की यह परम्परा नष्ट हो गई। कवियों ने जीवन की ओर से आँखें फेर लीं। वे केवल साहित्य, केवल शास्त्र, केवल कला के पुजारी बन बैठे। उन्होंने प्रगतिशीलता से हाथ धो लिया और

स्वप्नों के संसार गढ़ने लगे। भारतेन्दु युग के काव्य की सब से सुन्दर देन—सामयिक काव्य—की उपेक्षा ने बीसवीं शताब्दी के छत्तीस वर्षों के काव्य को कला की दृष्टि से चाहे जितना पुष्ट किया हो, उसकी जीवंत शक्ति को नष्ट कर दिया है। भारतेन्दु युग के काव्य में कल्पना को उतनी उड़ान नहीं, छंदों की विविधता और कलात्मकता नहीं, भाषा-शैली के नए-नए प्रयोग नहीं परंतु बहुत कुछ ऐसा है जो परवर्ती काव्य में नहीं है, जो इतना प्राणवान है कि आज पचास वर्ष बीतने पर भी हमें विभोर कर लेता है।

९

द्विवेदी युग का काव्य

१९०३-०४ में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' (मासिक पत्र, प्रयाग) का संपादकत्व ग्रहण किया और कुछ ही समय बाद उन्होंने काव्य की भाषा और उसकी शैली के संबंध में एक विशाल आन्दोलन का सूत्रपात किया। वास्तव में काव्य की भाषा के संबन्ध में तर्क-वितर्क भारतेन्दु युग में ही होने लगे थे, परंतु भारतेन्दु युग के कवि प्राचीन परम्पराओं की ओर अधिक झुकते थे, अतः वे इस विषय में कुछ भी स्थिर नहीं कर सके। 'भारतमित्र' और 'हिन्दोस्तान' की पुरानी फ़ाइलों और कुछ पुस्तकों से भाषा-संबन्धी इस वाद-विवाद पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले चतुर्थांश में खड़ी बोली गद्य का प्रवर्तन होगया था और १८२६ई० में कलकत्ते से निकलने वाले पहले हिंदी पत्र 'उदंतमार्तण्ड' की भाषा 'पछाँह की बोली' (खड़ी बोली) ही थीं। राजा शिवप्रसाद, भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त प्रभृति अनेक महान गद्यकारों ने इस भाषा की रूपरेखा निश्चित की और उसकी शैलियों को गढ़ा। परंतु काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा का जो एकछत्र साम्राज्य सूरदास के समय से चला आ ता था, वह उसी तरह चलता रहा। भारतेन्दु युग में कविता के विषयों में नवीनता और सामाजिकता ने प्रवेश अवश्य किया, महँगी और टैक्स काव्य के नए विषय बने, परंतु भाषा अधिकांश ब्रज ही रही। गद्य और पद्य क' भाषा की विभिन्नता के विरुद्ध कुछ करना आवश्यक जान पड़ा। खड़ी बोली में भी कविता हो, यह दृष्टिकोण सामने रखा गया। परंतु व्यावहारिक, बाज़ारू, खड़ी बोली में सुन्दर काव्य-रचना हो

सकती है, इस विषय में मतभेद था। फिर भी लोक-रुचि गद्य और पद्य की एकता की ओर बढ़ रही थी। भारतेन्दु ने स्वयम् १८८४, ८५ में पत्रों में कुछ खड़ी बोली के सोरठे, दोहे और लोक गीतों के आधार पर गढ़े कुछ छंद छपाये और साहित्य-रसिकों से उनके संबन्ध में सम्मति चाही। इस प्रकार के प्रयोग अन्य कवियों ने भी किये परंतु मूल रूप से काव्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही। खड़ी बोली कविता-का पहला गंभीर प्रयोग श्रीधर पाठक का 'एकांतवासी योगी' (१८८६ ई०) है। १८८८ ई० में बाबू अयोध्यानाथ खत्री की पुस्तक 'खड़ी बोली का आन्दोलन' छपी। इस पुस्तक द्वारा खड़ी बोली के काव्य-भाषा बनाने के अन्दोलन को स्थायित्व मिला।

परंतु 'खड़ी बोली' कोई नई भाषा नहीं थी। यह शताब्दियां पहले से कुरु-पांचाल प्रदेश में जन-भाषा (बोली) के रूप में चली आ रही थी। 'हिंदवी काव्य' के नाम से जो काव्य प्रसिद्ध है, वह वस्तुतः खड़ी बोली का ही साहित्य है जो १२वीं शताब्दी के बाद विशेषतः मुसलमानों द्वारा रचा गया। मसूदी (१०४५-११२१), फ़रीद (११७३-१२६५), खुसरो (१२५३-१३२५), ख़ूबमुहम्मद चिश्ती (१५३९-१६१४), कुली क़ुतबशाह (१५८०-१६११) इस भाषा के प्रसिद्ध कवि थे। हिंदी खड़ी बोली का प्राचीन काव्य-साहित्य इतना विस्तृत नहीं है, परंतु कबीर (१३९९-१५१८) और नानक (१४६९-१५३९) का साहित्य हिंदी खड़ी बोली का साहित्य ही माना जायगा। पं० रामचंद्र शुक्ल ने जिसे सधुक्कड़ी बोली कहा है, वह खड़ी बोली का अन्य भाषा-मिश्रित रूप है। १७-१८ वीं शताब्दी में खड़ी बोली के उर्दू रूप का काव्य क्षेत्र में व्यापक प्रयोग हुआ। मीर, वली, शाह, मुबारिक और ज़फ़र का काव्य भाषा की दृष्टि से खड़ी बोली से भिन्न नहीं है। प्राचीन कवियों के उदाहरण में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उनकी कविता अधिकतर ब्रज-भाषा के प्रभाव से मिश्रित होती थी, परंतु विशुद्ध खड़ी बोली से भी

अनेक उदाहरण मिलते हैं। दादूदयाल (१६ वीं शताब्दी), आनन्द-घन (१७ वीं शताब्दी) और सूदन (१८ वीं शताब्दी) के काव्य में खड़ी बोली का पुट व्यापक रूप से मिलता है। इस प्रकार काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली के प्रयोग की परम्परा ११वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक थोड़ी-बहुत भाषा में बराबर चली आती है। १८वीं शताब्दी में खड़ी बोली का प्रभाव दूर-दूर तक फैल गया था। इसी समय गुजराती कवि दयाराम ने हिंदी में भी रचना की। मुसलमानों का राजाश्रय मिलने के कारण खड़ी बोली के उर्दू रूप को जो प्रौढ़ता प्राप्त हो गई, वह खड़ी बोली के हिंदी रूप को प्राप्त न हो सकी। १८वीं शताब्दी में जनसाहित्य ने खड़ी बोली कविता का प्रचुर प्रयोग किया। यह प्रयोग अधिकतः खड़ी बोली प्रदेश (आगरे इत्यादि) में ही हुआ। भगत, खेंड, नौटङ्की, भंड़ैती, रास आदि जन-मनोरंजनों में खड़ी बोली का विशद प्रयोग हुआ और उसका रूप मंजा। भगत की रचनाओं के कारण खड़ी बोली की कविता दूर दूर के शहरों में लोकप्रिय हो सकी। सर्वसाधारण को भगतें कितनी पसंद हैं और उनके चित्त पर इनका कितना प्रभाव पड़ता है, इसका अनुमान वही कर सकता जिसने या तो भगत देखी हों या पुस्तकें पढ़ी हों। लल्लूलालजी-के वंशज मन्नूलालजी द्वारा रचे गये सीता राम-चरित्र नामक खड़ी बोली के नाटक में खड़ी बोली का पहला सुगढ़ जन प्रचलित रूप मिलता है। आगरे में ख्यालबाज़ी भी होती है। वास्तव में सारे पश्चिमी हिंदी-प्रदेश में (कानपुर-लखनऊ तक) ख्यालबाज़ी और लावनी की धूम थी। इसका ढंग कुछ मुशायरा जैसा था और यह एक प्रकार की आशु-कविता की प्रतियोगिता थी। लोग ख़याल बनाकर उसी वक्त कहते। कोई-कोई पहले बनाये ख्याल भी गाते। कभी कभी दो नामी ख्यालबाज़ों की मुठभेड़ भी हो जाती, एक दूसरे पर ख़याल में कटाक्ष करता, दूसरा ख्याल में ही उसका उत्तर

देता। कबीर में, जो होली के अवसर पर गाये जाते, इसी तरह की प्रतियोगिता चलती। सच तो यह है कि इन्हीं कुरुचि-सुरुचिपूर्ण निम्नवर्गों की कविताओं ने साहित्यिक प्रयत्नों के लिए क्षेत्र तैयार किया। इसी प्रकार की अन्य रचनाओं का नाम 'खंड' था। 'खंड' की कविता अधिकतः विशुद्ध खड़ी बोली होती थी। ये अधिकांश मौखिक चलते थे, इसलिए लिपिबद्ध नहीं मिलते। इनकी कविता इतनी जोशीली होती थी कि कभी-कभी गाने वालों में लड़ाई और मारपीट तक हो जाती। उच्च भावों से भरी अत्यन्त मनोरंजक वीर-रस-प्रधान कथाएँ इनमें पाई जाती हैं, जैसे अमरसिंह राठौर, दयाराम गूजर आदि।

खड़ी बोली के पहले कुछ कवियों का ध्यान इस लोक-संस्कृति की ओर गया जिसका प्रकाशन खड़ी बोली के गीतों में होता था। श्रीधर पाठक ने अपने काव्य में जनप्रचलित छंदों का व्यापक प्रयोग किया है। द्विवेदीयुग में साहित्य का मुख जनता की ओर से हटकर संस्कृत और मराठी काव्य-साहित्य की ओर हो गया। फलतः वर्णवृत्त छंदों को अधिक महत्त्व मिला। हज़ारों वर्षों से गायकों और जन-कथाकारों के कंठ में मजे लोक प्रचलित छंद उपेक्षित रह गये। परंतु अंत में इन छन्दों ने स्वयं अपनी शक्ति से साहित्य में अपना स्थान बना लिया।

साधारणतः १६०० १६१८ तक की काव्य प्रवृत्तियों को हम द्विवेदी-जी से संबन्धित करते हैं। यही वह समय था जब वह क्रियाशील रहे और सरस्वती के माध्यम से उन्होंने साहित्य और विशेष रूप से हिन्दी कविता को प्रभावित किया। द्विवेदी-युग की काव्य धारा में हिंदी कविता की वे प्रवृत्तियाँ पुष्ट हुईं जिनका आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था। भारतेन्दु के समय काव्य की प्रगति विशेषतयः तीन दिशाओं में बह रही थी—(क) वैष्णव काव्य धारा (ख) शृङ्गार

प्रधान काव्य और (ग) राष्ट्रीय एवं जातीय सामयिक काव्य। पहली दो धाराओं का मूल भारतीय साहित्य की परम्परा में था और अन्तिम समय और परिस्थितियों की उपज थी। डाक्टर इन्द्रनाथ मदन ने वैष्णव काव्य को रोमांटिक काव्य कहा है क्योंकि उनके मत में वैष्णव काव्य सौन्दर्यानुभूति प्रधान होने के कारण नैतिक प्रबन्धों के प्रति विद्रोह भी प्रगट करता है। परन्तु ठीक अर्थों में हम उसे रोमांटिक नहीं कह सकते। यह अवश्य है कि बाद में उसमें श्रृङ्गार की भावना स्थापित होने के कारण उसका शुद्ध नैतिक रूप दृष्टि से ओझल हो गया था। परन्तु जिस रूप में हम वर्तमान काव्य-धारा से परिचित हैं, वह रूप उसे कभी प्राप्त नहीं हुआ। वैष्णवकाव्य को रोमांटिक काव्यधारा कहना उपयुक्त नहीं होगा। हाँ, सूफ़ियों के प्रेम-साहित्य को उनकी अंतर्धारा की विशेषता की दृष्टि से हिन्दी का पहला रोमांटिक काव्य कह सकते हैं।

द्विवेदीयुग में भारतेन्दु की काव्य-धाराएँ पुष्ट हुईं। किसी दिशा में मौलिकता ने नया जन्म नहीं लिया। परन्तु एक बात जो विशेष हुई वह यह थी कि श्रृङ्गार काव्य की परंपरा का युग के बढ़ते हुए बुद्धिवाद और नवीन समाज के कड़े आदर्शों द्वारा विरोध हुआ। और यह उचित भी था। जाति की क्षीण शक्ति को संयम में बाँध कर उसे प्रगति की ओर बढ़ाने की आवश्यकता थी। परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। कवि को अपना मुख मध्यवर्ग की ओर करना पड़ रहा था जिसने कर्म को प्रधानता दे दी थी और जिसके नैतिकता के आदर्श स्वार्थपूर्ण एवं कड़े थे।

इस युग का सबसे बड़ा महत्व यह है कि इसमें रीतिकाल तक चली आती हुई देश की काव्य भाषा (ब्रजभाषा) के स्थान पर एक उतनी ही प्राचीन समानान्तर बहने वाली काव्य धारा को परिष्कृत कर के साहित्य के उच्चासन पर बिठाने का सफल प्रयत्न किया गया।

जो नये विषय कविता को मिले, वह अधिकांश जातीय और राष्ट्रीय उत्थान एवं समाज-सुधार से सम्बन्धित हैं । ये लेखक संक्रांति काल के लेखक थे । अतः जैसे अनेक दिशाओं में उनके प्रयास शिशु-प्रयास रहे वैसा इधर भी रहा । उन्होंने प्रकृति को या तो अलंकारों की योजना के लिए भूमि पर उतारा था या उसके नाना रूपों या व्यापारों की गिनती करके उसकी तालिका मात्र तैयार की । परन्तु ये प्रवृत्ति के प्रति उनके नये दृष्टिकोण के विकसित होने के अभिनन्दनीय चिह्न थे ।

द्विवेदीयुग में पहले-पहल निश्चित रूप से खड़ी बोली काव्य-भाषा के लिए प्रयुक्त हुई यद्यपि उसका प्रयोग थोड़ी मात्रा में भारतेन्दु युग में भी हो चुका था । भारतेन्दु ने अपने कुछ नाटकों में खड़ी बोली पद्य का प्रयोग किया था, परन्तु एकाध स्थानों को छोड़ कर उनका प्रयोग प्रहसन का रूप लिये है । श्रीधर पाठक ऐसे पहले कवि थे, जिन्होंने खड़ी बोली का गंभीरतापूर्वक काव्य-भाषा के लिए प्रयोग किया । उन्होंने अंग्रेज़ी से अनुवाद किये और प्रकृति और देश भक्ति सम्बन्धी रचनाएं इसी बोली में लिखीं परन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पं० श्रीधर पाठक मूलतः ब्रजभाषा के कवि थे । हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने काव्यक्षेत्र में नये विषयों का प्रयोग कराया था— स्वदेशप्रेम, प्रकृति-निरीक्षण, समाज के किसी वर्ग को लेकर व्यंग, सामाजिक कुरीतियाँ – परन्तु काव्य-भाषा और छन्दों में कोई परिवर्तन न हुआ था, अतः जो कुछ परिवर्तन हुआ भी, वह आमूल नहीं कहा जा सकता । हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों के काव्य में वही रीतिकालीन। अभिव्यंजना का ढंग था, वही मूर्तिमत्ता । ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि पं० श्रीधर पाठक ने ही अंग्रेजी काव्य का सहारा लेकर पहली बार क्रांति का मार्ग दिखाया ।

पाठक का प्रकृति वर्णन रूढ़िगत नहीं है। उन्होंने प्रकृति को अपनी आँखों से देखा है। पिछले षट्ऋतु-वर्णन आदि को देखते हुए यह एक क्रांतिकारी परिवर्तन था। उनके प्रकृति-वर्णन में आत्मानुभूति, तन्मयता या रहस्यवादिता का स्थान भले ही न हो, उसका रूप ऐसा बदला हुआ था कि उस समय के पाठकों की दृष्टि उसकी ओर गई और उसका विरोध हुआ। यही एक बात इस क्षेत्र में उनकी मौलिकता और नवीनता बताती है। एक दूसरी बात यह थी कि पाठक ने नये छंदों का प्रवर्तन किया। उन्होंने अपने छंदों को जनता में प्रचलित लोकगीतों से चुना। इसका कारण, जैसा हम ऊपर दिखा चुके हैं, यह था कि उस समय तक लोकगीतों (लावनी, ख़याल, सधुक्कड़ी, गीत आदि) में खड़ी बोली का प्रयोग लगभग सारे हिंदी प्रदेश में हो रहा था और जो साहित्यिक पहली बार पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली क़ा प्रयोग करता। उसको इस लोकप्रिय जन-साहित्य का सहारा लेना पड़ता।

परंतु इस प्रकार की स्वच्छंद उद्भावना जो नये छन्दों के प्रयोग और प्रकृति के प्रति नये दृष्टिकोण को लेकर चली थी, पं०श्रीधर पाठक तक ही समाप्त हो जाती थी काव्यक्षेत्र में उनका अनुकरण नहीं हुआ।

यद्यपि खड़ी बोली कविता के उन्नायक निश्चित रूप से पं० श्रीधर पाठक हैं, परंतु शीघ्र ही दूसरी नई शक्ति आई जिसने इन्हें पीछे डाल दिया। हम देखते हैं कि पं० श्रीधर पाठक का नवीन दृष्टिकोण खड़ी बोली के जनगीतों और जन-साधारण की सामान्य भावनाओं एवं अंग्रेज़ी साहित्य पर आश्रित था। इस नवीन शक्ति—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी—का आधार दूसरा था। वे संस्कृत और मराठी काव्य को आधार मान कर चले। उन्होंने संस्कृत वृत्तों का चलन किया और खड़ी बोली काव्य में संस्कृत तत्सम शब्दों के बाहुल्य और संस्कृत पदावली के समावेश को स्थान दिया। ये बातें संस्कृत काव्य

के ज्ञान पर आश्रित थीं। उनके काव्य में नीरसता, शुष्कता और कर्ण-कटु शब्दों का प्रयोग मराठी से आया। भाषा उत्तरोत्तर सीधी होती गई और बाद में वह रससिक्त भी हुई परन्तु शैली इतिवृत्तात्मकता नहीं गई। हाँ, लाभ यह हुआ कि रीतिकाल की रूढ़ियों से हिंदी एकदम छूट गई। वास्तव में द्विवेदी-युग का काव्य रीति-काव्य के शृङ्गार-रस और रीति-प्रधानता के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में उपस्थित हुआ था। यदि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण न होते तो खड़ी बोली कविता का विकास पं० श्रीधर पाठक की शैली पर स्वतंत्रता से होता और संस्कृत काव्य की ओर लोगों की दृष्टि भी न जाती।

द्विवेदीयुग की काव्य-रचना की एक बंधी प्रणाली थी जिसके प्रवर्तक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इन्होंने भाषा की सुन्दरता और सरलता की ओर आग्रह किया। ब्रजभाषा और अवधी का जो मिश्रण खड़ी बोली कविता में रहता था, उसे दूर कर दिया। परन्तु द्विवेदीजी का ध्यान पद्य की भाषा के सुधार तक ही सीमित नहीं था। काव्य की शैली के संबन्ध में भी उनके कुछ विचार थे। इनमें दो मुख्य थे—संस्कृत वृत्तों का प्रयोग हो और भाषा गद्य से मिलती हो। इन धारणाओं को लेकर उन्होंने पहले ब्रजभाषा में ही रचना की, परन्तु शीघ्र ही वे उसे छोड़ बैठे। यही नहीं, उन्होंने खड़ी बोली को ही एक मात्र काव्य-भाषा बनाने का आन्दोलन चलाया। यद्यपि उस समय सरल गद्य की भाषा में कविता लिखना असंभव था और स्वयम् द्विवेदीजी उसमें असफल रहे, उनकी कविता में संस्कृत शब्दावली का प्रवेश हो गया और उनके द्वारा प्रभावित अन्य कवियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। परन्तु द्विवेदीजी का यह आग्रह भी बराबर बढ़ता गया कि कविता की भाषा गद्य की व्यावहारिक भाषा होनी चाहिये। उनकी कविता में रस-संचार की ओर ध्यान नहीं दिया गया, उसमें

इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है और सारा काव्य अभिधा-मात्र है। न लक्षणा का प्रयोग है, न चित्रमयता का, न अलंकारों आदि का।

संयोगवश द्विवेदीजी को 'सरस्वती' का सम्पादन मिल गया और इस पत्रिका के द्वारा उन्होंने केवल खड़ी बोली के पक्ष का समर्थन ही नहीं किया, वरन् उस भाषा में अनेक पद्यकारों (कवियों) को जन्म दिया। वास्तव में द्विवेदीजी की प्रेरणा से जो व्यक्ति काव्य क्षेत्र में आये उनमें से अधिक पद्यकार ही थे, कवि नहीं। जैसे ऊपर कहा जा चुका है, द्विवेदीजी ने स्वयम्. काव्य रचना कर अपने अनुयायियों के सामने एक आदर्श रखा। धीरे २ अनेक कवि क्षेत्र में आये। इनमें से प्रसिद्ध हैं मैथिलीशरण गुप्त, माधव शुक्ल, रामचरित उपाध्याय, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही और पं० रूपनारायण पांडेय। इनमें से कुछ लेखक पहले भी खड़ी बोली में काव्य-रचना करते आये थे, परन्तु वह क्षेत्र में अकेले होने के कारण संकोची बने हुए थे। वे अब एक स्कूल का बल पाकर मुखर हो गये।

इन कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य कवि ऐसे भी थे जिन्होंने द्विवेदीजी के प्रभाव से बाहर रहकर खड़ी बोली में कविता की। इनमें लाला भगवानदीन "दीन", राय देवीप्रसाद पूर्ण, पं० रामचंद्र शुक्ल और पं० अयोध्यानाथ उपाध्याय 'हरिऔध' महत्वपूर्ण हैं।

हरिऔध ने अपना ध्यान उर्दू के छंदों और ठेठ बोली की ओर किया। १६०० से पहले उन्होंने इसी प्रकार की कविताएँ लिखीं। उस समय तक उर्दू खड़ी बोली का बहुत बड़ा काव्य साहित्य तैयार हो गया था। अतः हिंदी खड़ी बोली के काव्य के प्रारम्भिक दिनों में कवियों का ध्यान उसकी ओर जाना आवश्यक था। जब पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के आंदोलन के कारण संस्कृत छंदों और संस्कृत पदावली को हिंदी कविता में स्थान मिल गया तो हरिऔध ने उसी शैली में द्विवेदी युग की सर्वोत्तम रचना (प्रियप्रवास, १६१४) लिखी।

इसमें संस्कृत वृत्तों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से हुआ है। इसमें प्रकृति-वर्णन अधिकांश परम्परा-पालन के लिए है। इसमें श्रीधर पाठक के प्रकृति वर्णन के समान नवीनता और मार्मिकता नहीं। एक बात अवश्य है। हरिऔध ने संस्कृत की कोमल कांत-पदावली का सफलता से प्रयोग कर अन्य कवियों का ध्यान उसकी ओर खींचा। द्विवेदीजी के आग्रह और अनुकरण से जो कविता हो रही थी, उसमें कर्कश और कर्ण-कटु पदावली की प्रधानता थी। परन्तु शीघ्र ही हरिऔध फिर बोल चाल और मुहावरों की ओर झुके। उनकी इस प्रकार की शैली के उदाहरण हैं चोखे चौपदे (१९२४) और पद्य प्रसून (१९२५)।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि हैं, यद्यपि उन्होंने परिवर्ती काव्य की शैलियाँ भी अपनाई हैं। उनकी कविता में द्विवेदी युग के अन्य कवियों की भाँति इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है परन्तु जहाँ अन्य कवि छोटी-मोटी मुक्तक कविताओं तक ही रह गये, वहाँ इन्होंने मुक्तकों के अतिरिक्त कथात्मक खंड-काव्यों और महाकाव्यों की भी रचना की। रंग में भंग, गुरुकुल, जयद्रथ-बध, विकटभट, पचवटी, वैतालिक, साकेत, द्वापर, यशोधरा, नहुष, तिलोत्तमा, चंद्रहास लगभग एक दर्जन से अधिक कथा-प्रधान काव्यों से उन्होंने हिंदी-काव्य भंडार को अलंकृत किया। इन काव्यों के विषय हिंदू जातीयता, हिंदू जातीय वीर एवं पौराणिक पुरुष या अवतार हैं। इन सब कथाओं में गुप्तजी मनुष्य के परिचित सुख-दुख का वातावरण लेकर उपस्थित होते हैं। लगभग सभी में करुणामूलक मानवप्रेम, विश्वप्रेम एवं बलिदान का संदेश है। इन काव्यों की परम्परा पिछले दो चार वर्ष तक चली है और उनपर राष्ट्रीय आन्दोलनों एवं नवीन साहित्यिक आंदोलन का प्रभाव भी लक्षित है। परन्तु मूलरूप से द्विवेदी युग के काव्य के ही अधिक निकट हैं। उनमें हमें उत्तरोत्तर विकसित कला का परिचय मिलता है। इनके अतिरिक्त उनकी

अन्य प्रसिद्ध रचनाए 'भारत-भारती' और 'झंकार' हैं। पहली पुस्तक हिंदी की पहली राष्ट्रीय रचना है जिसमें देश एवं जाति की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों के प्रति पहली बार असंतोष प्रगट किया गया है। दूसरी पुस्तक भाव-प्रधान गीतों का संग्रह है जिनपर छायावाद काव्य के विषय और शैलो का प्रभाव स्पष्ट है।

द्विवेदी– युग के काव्य के अध्ययन के लिए स्वयं पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी के काव्य का विशद अध्ययन आवश्यक हो जाता है, यद्यपि उनके काव्य का अधिकांश भाग स्थायी साहित्य नहींबन सकेगा। फिर भी उसका इतना ऐतिहासिक महत्त्व है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तव में मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का बीज-रूप द्विवेदी जी की रचनाओं में मिल जाता है। यदि द्विवेदी जी केवल गद्य ही लिखते रहते अथवा अपनी कविता-विषयक धारणाओं को गद्य तक हो सीमित रखते, तो कदाचित वे नवीन काव्य में क्रांति उपस्थित न कर पाते। उनका काव्य उनकी काव्य-संबन्धी धारणाओं का प्रतिरूप है, परन्तु उन्हें उनकी वास्तविक पीठिका में रखकर देखने के लिये यह आवश्यक है कि सरस्वती में प्रकाशित आचार्य के सिद्धांतों और अन्य कवियों की कविताओं के साथ-साथ उनका अध्ययन किया जाए। इस अध्ययन के फलस्वरूप उन प्रवृत्तियों का स्पष्ट रूप से उद्घाटन हो सकेगा जिन्हें हम द्विवेदी युग के काव्य की मूल प्रवृत्तियाँ कहते हैं। सरस्वती में ही हमें मैथिलीशरण गुप्त के विकास की रूपरेखाएँ मिलेंगी। इनके अतिरिक्त पं० रामचरित उपाध्याय, पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न, पं० लोचनप्रसाद पांडेय का साहित्य भी सरस्वती के द्वारा प्रतिमास प्रकाश में आता रहा है। ये सब ऐसे कवि हैं जिन्होंने पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की काव्य मान्यताओं को स्वीकार कर लिया था और जो स्पष्टतः उनके प्रभाव में बढ़ रहे थे। सरस्वती एवं अन्य समसामयिक मासिक और साप्ताहिक पत्रिकाओं के पृष्ठों में

ऐसे कितने ही कवि मिलेंगे जो अब विस्मृति के गर्त में जा पड़े हैं। द्विवेदी जी ने ऐसे लोगों के लिए भी कविता का मार्ग खोल दिया था जिसमें कवि हृदय नाममात्र को न था, परन्तु जो इतिवृत्तात्मक गद्य-निबन्ध को तुकबन्दी के रूप में उपस्थित कर सकते थे। काव्य की भाषा और गद्य की भाषा में कोई अंतर नहीं रहा था। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति कवि बन बैठता था। काव्य तत्त्वहीन ऐसी कविताओं से उस समय का सामयिक साहित्य भरा-पुरा है। सारे हिंदी साहित्य में ऐसी नीरस, काव्य-रसहीन, काव्य की विडंबना स्वरूप कविताएँ कदाचित् ही मिलेंगी परन्तु इन्हीं रचनाओं में हमें श्रेष्ठ कवियों के विकास का रूप भी निर्धारित करना होगा और भावी युग के काव्यान्दोलनों के मूल कारण भी मिलेंगे।

ऐसे भी अनेक कवि थे जिनपर द्विवेदी जी का स्पष्ट प्रभाव नहीं था, परन्तु जो भारतेन्दु-युग से चली आती काव्य-परंपरा का पालन कर रहे थे। यह कवि या तो केवल ब्रजभाषा में ही रचनाए करते थे (जैसे वियोगी हरि या सत्यनारायण कविरत्न) या ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों भाषाओं में लिखते थे। पिछली श्रेणी के महत्वपूर्ण कवि हैं राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही (त्रिशूल), लाला भगवानदीन, पं० रामनरेश त्रिपाठी और पं० रूप नारायणपांडेय। इन कवियों ने सरस्वती के पृष्ठों से लिखना नहीं सीखा था, और चाहे वे किसी रूप में द्विवेदी जी के व्यक्तित्व और काव्य-संबन्धी उनकी मान्यताओं से प्रभावित रहे हों, परन्तु मुख्य रूप से वे एक विशद परम्परा की अंतिम श्रृङ्खला थे। अतः उनके काव्य में अन्य कवियों की अपेक्षा काव्य-गुण की मात्रा अधिक होना स्वाभाविक था। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि खड़ी बोली काव्य की न तो भाषा ही मँज पाई थी, न छंद ही प्रयोग से सरस हो सके थे। इस कारण इनकी खड़ी बोली की कविताएँ इनकी ब्रजभाषा की

कविताओं से बहुत नीचे रह जाती हैं। उनके हृदय, कल्पना और कला का समुचित समावेश नहीं हो पाता। वास्तव में ये कवि स्वतः समझ लिए थे कि किन भावों के लिये किस भाषा का प्रयोग करना सहज होगा। शृङ्गार, वीर और भक्ति काव्य के लिए वे परम्परा का पालन करते हुये भी ब्रजभाषा और कवित्त-सवैया छंद का प्रयोग करते, परन्तु जन्मभूमि प्रेम, जाति गौरव, समाज-दशा, आचरण-सम्बन्धी उपदेश तथा इसी प्रकार के अन्य सामयिक नवीन विषयों को अपनाते हुए वे खड़ी बोली भाषा और नवीन छंदों का प्रयोग करते। सत्य-नारायण कविरत्न को छोड़कर ऐसा कोई कवि नहीं है जिसने ब्रज-भाषा के विविध विषयों को अपना विषय बनाया हो। खड़ी बोली की भी कवित्त-सवैयों के लिखने की प्रथा चल पड़ी थी। शंकर, सनेही और गोपालशरण सिंह के खड़ी बोली के कवित्त और सवैये भाषा-सौष्ठव और रस परिपाक की दृष्टि से ऊँची श्रेणी के हैं। अन्य कितने ही कवियों ने उनका अनुकरण किया। सनेही तो आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए और उन्होंने कवि-समाजों, कवि-सम्मेलनों और कविता-पत्रों के द्वारा कानपुर में एक विशिष्ट काव्यसमाज ही स्थापित कर लिया। द्विवेदीयुग को एक विशेषता रसिक-वाटिका जैसी पत्रिकाएँ हैं, जो कविताओं, समस्यापूर्तियों और कवित्त सवैयों के लिए ही प्रकाशित होती थीं। वास्तव में उस समय का अधिकांश साहित्य पत्र पत्रिकाओं तक ही सीमित था।

जिन कवियों का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं वे द्विवेदी काव्य की मरु-भूमि में रसस्रोत बहा रहे हैं। उनमें सत्यनारायण कविरत्न ब्रजभाषा-काव्य में और पंडित रामनरेश त्रिपाठी खड़ी बोली काव्य में सर्वोच्च हैं। पं० सत्यनारायण कविरत्न-जैसा कवि-हृदय भारतेन्दु के बाद और किसी कवि को नहीं मिला था। उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया वह काव्य-परंपरा के भीतर से मिली हुई ब्रजभाषा नहीं

थी। वह शुद्ध ब्रज थी। उनके समय में ब्रज ही जीती-जागती बोलचाल की ब्रजभाषा थी। यद्यपि "भ्रमदूत" और "प्रेमकली" जैसी कविताओं में उन्होंने प्राचीन ब्रजकवियों की कला का आधार ग्रहण किया है, परन्तु स्वयं उनकी सहृदयता और चलती भाषा के मेल के कारण उनका काव्य अत्यत हृदयग्राही है। इन परम्परा-बद्ध विषयों के अतिरिक्त उन्होंने सामयिक कविताएं भी बड़ी मात्रा में लिखी हैं। इसी से उनकी कविता में सुन्दर विविधता के दर्शन होते हैं। स्वयं उनका जीवन अत्यंत कटु था, परन्तु कुछ कविताओं को छोड़कर उसकी छाप लगभग नहीं है। उन्होंने आत्मानुभव को भी कितने ही छंदों में उपस्थित किया है। उनका काव्य जीवन से प्रसूत होने के कारण अभिनंदनीय हैं। पं० रूपनारायण पांडेय की रचनायें 'पराग' और 'वनविहंगम' के रूप में संग्रहीत हैं। इनमें से पिछली कविता में एक कपोत-कपोती की प्रेम-कहानी सहृदयता और सरसता से उपस्थित की गई है। लाला भगवानदीन प्राचीन काव्य शैली के पोषक थे। खड़ी बोली की उनकी कविता वीरों के चरित्र को लेकर वीरकाव्य के रूप में ही प्रस्फुटित हुई है। 'पूर्ण' में हमें भारतेन्दुकाल की सारी प्रवृत्तियों के दर्शन हो जाते हैं—वही राज-भक्ति-समन्वित देशभक्ति, वही सामयिक आन्दोलनों की प्रतिध्वनि, वही समाज–और धर्मसंबन्धी उत्साह।

द्विवेदी-काल के कुछ महत्वपूर्ण कवि ऐसे हैं जिनमें हमें द्विवेदी-काव्य और छायावाद काव्य दोनों के सूत्र मिलते हैं। वे संक्रांति काल के कवि हैं। इनमें महत्त्वपूर्ण हैं पं० रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय, प० बद्रीनाथ भट्ट और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी। यह सब कवि अंग्रेज़ी काव्य से परिचित और उससे प्रभावित थे। इनकी कविताओं की गीतात्मकता, भावुकता, व्यंजना शैली और जीवन के प्रति इनका आश्चर्यभाव (रोमांटिक दृष्टिकोण) परवर्ती काव्य का

बीज है। सच तो यह है कि पहले दशाब्द का अंत होते-होते अंग्रेज़ी काव्य-साहित्य से परिचित कवि और पाठक द्विवेदीयुग की कविता की नीरसता, अभिधाप्रधान शैली, इतिवृत्तात्मकता और उसकी कल्पना-हीनता एवं रसशून्यता से ऊब गये थे। वे भावप्रकाशन की अधिक सरल, सरस और मार्मिकशैली की ओर बढ़ना चाहते थे। यद्यपि ये कवि प्रधान रूप से द्विवेदीयुग के कवि हैं क्योंकि उनके काव्य का अधिकांश उसी की विशेषताओं से विभूषित है, परन्तु उनका थोड़ा भाग अवश्य ही उन्हें द्विवेदी-युग से आगे बढ़ा कर छायावाद काव्य के उन्नायकों में रख देता है

जो हो, यह स्पष्ट है कि १६०३-०४ के लगभग पं० श्रीधर पाठक के नैसर्गिक मार्ग को छोड़कर कविताक्षेत्र में नई गति-विधि चल पड़ी थी। इस काव्यधारा की विशेषताएं थीं--

१. सामाजिकता एवं सामयिक विषयों की उपेक्षा

२. इतिवृत्तात्मक

३. रस-परिपाक की उपेक्षा

४. भाषा का अभिधाप्रधान, गद्यात्मक प्रयोग

५. कल्पना का अत्यन्त संकुचित और नियंत्रित प्रयोग

६. नैतिकता संपन्न दृष्टि

७. संस्कृत वर्णात्मक छन्दों और मात्रिक छन्दों का व्यापक प्रयोग

८. प्रकृति चित्रण में वर्णनात्मकता की प्रधानता

६. काव्य-भाषा में तत्समता का आग्रह

१०. प्रेम, श्रृङ्गार और जीवन की उत्साहप्रद सभी प्रवृत्तियों के प्रति उदासीनता का भाव

११. समाजसुधार संबन्धी विषयों का समावेश

इन विशेतषाओं से इस काव्य की रूपरेखा के सम्बन्ध में बहुत कुछ

निश्चित हो जाता है। यह स्पष्ट है कि द्विवेदी युग के काव्य में उसके युग की पूरी-पूरी झलक थी। इस शताब्दी के पहले दो शतक नैतिकता प्रधान आर्यसमाजी आंदोलन के लिए प्रसिद्ध हैं। इसके फलस्वरूप एक अत्यंत अतिनैतिक (Puritan) दृष्टिकोण का जन-समाज (मुख्यतः मध्यवित्त समाज) में विकास हो गया था। इसी से द्विवेदी युग के काव्य मे हम नैतिकता का आग्रह, प्रेम, शृङ्गार और जीवन की चुहलों के प्रति उदासीनता और समाज-सुधार एवम् चारित्रिक उत्थान संबंधी विषयों का समावेश पाते हैं। जहाँ तक युग की प्रवृत्ति के प्रभाव की बात है, वहाँ तक यह ठीक है। काव्य की आत्मा में युग की आत्मा का प्रतिबिंब अवश्यम्भावी है। परंतु युग की प्रवृत्ति से अधिक भी इस काव्य में बहुत कुछ हैं। प्राचीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रति प्रतिक्रिया स्पष्ट है। रीतिकाव्य की विलास-प्रधान, नायक-नायिकावलंबी कविताओं के प्रति धीरे धीरे विद्रोह जाग रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी में जहाँ कवियों का एक वर्ग शृङ्गारात्मक प्रवृत्तियों में रीतिकालीन कवियों के चरणचिह्नों पर चल रहा था, वहाँ दूसरा वर्ग इन परंपरागत काव्यविषयों को घृणा से देखता था। कालांतर में यह विद्रोह और भी सजग हो उठा। फल यह हुआ कि द्विवेदी युग की कविता में सरसता की मात्रा बहुत कम मिलेगी।

जो सबसे बड़ी क्रांति बीसवी शताब्दी के पहले १५-२० वर्षों में हुई, वह काव्य की आत्मा (विषय) से संबंधित नहीं, उसकी देह (भाषा, शैली, छंद) से संबंधित है। खड़ी बोली की परंपरा चाहे कितनी ही प्राचीन स्थापित कर ली जाय यह निश्चित है कि हिंदू सहित्यिकों द्वारा उसका प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पंद्रह वर्षों में ही पहली बार हुआ। १८८५-१९०३ तक खड़ी बोली काव्य की सर्वमान्य भाषा नहीं बन पाई थी। १९०३ के बाद महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रयत्नों से इस नई काव्य-भाषा की ओर

कवियों का रूझान बढ़ा। १६१० तक कोई बड़ी रचना काव्यजगत के सामने उपस्थित नहीं हुई। १६१० में 'जयद्रथ वध' और १६१२ में 'भारतभारती' के साथ इस काव्यभाषा में पहली लोकप्रिय रचनायें जनता के सामने आई। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इन ६-१० वर्षों में मासिक और साप्ताहिक पत्रों में खड़ी बोली की कविताएं हज़ारों की संख्या में छपीं और उन्होंने खड़ी बोली काव्य का मार्ग प्रशस्त किया।

भाषा की दृष्टि से पहला सौष्ठवपूर्ण उदाहरण स्वयं द्विवेदीजी ने सामने रखा। उनका 'कुमार संभवसार' (१६०३) मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी के काव्यों का पूर्व रूप ही उपस्थित करता है। उदाहरण के लिए एक छन्द लीजिये—

पाद पीठ को शोभित करते
हुए इन्द्र ने इतने पर
जंघा से उतार कर अपना
खिले कमल सम पद सुन्दर
निज अभिलषित विषय में
सुनकर मन्मथ का सामर्थ्य महा
उससे अति आनंद पूर्वक
समयोचित इस भाँति कहा

अथवा १६०० ई० में लिखी 'बलीवर्द' शीर्षक कविता का एक छंद—

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज महाराज !
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना-दाना को मोहताज।
तुम्हें षण्ड कर देते हैं जो महा निर्दयी—जन-सिरताज,
धिक् उनको, उनपर हँसता है, बुरी तरह यह सकल समाज

इस कविता की तुलना मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी (१६२५) की इन पंक्तियों से कीजिये—

कटि के नीचे चिकुर जाल में उलझ रहा था बायाँ हाथ,
खेल रहा हो ज्यों लहरों से लोल कमल भौंरों के साथ।
दायाँ हाथ लिए था सुरभित चित्र-विचित्र सुमन माला,
टाँगा धनुष कि कल्पलता पर मनसिज ने झूला डाला

या रामनरेश त्रिपाठी के पथिक (१६२०) की इन पंक्तियों को लीजिये—

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग-बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर, ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में बिचरूँ यही चाहता मन है॥

जहाँ तक भाषा का संबंध है, द्विवेदीजी की १६०० ई० की भाषा से १६२० ई० अथवा १६२५ ई० की भाषा में कोई विशेष अंतर नहीं। केवल काव्यात्मकता की मात्रा गुप्तजी और त्रिपाठीजी की कविताओं में शेष है। साधारणतः ये उदाहरण द्विवेदीयुग की कविता की भाषा के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि इसी युग में एक तरुण वर्ग बंगला और अंग्रेज़ी के रोमांटिक काव्य के सहारे भाषा और शैली के नये प्रयोग कर रहा था। इन प्रयोगों से जो काव्य-रूप स्थिर हुआ उसे हम 'छायावाद' कहते हैं। १६२४ तक यह 'छायावाद' नाम की काव्यधारा भाषा और शैली की दृष्टि से द्विवेदीयुग की काव्यधारा से कितनी पुष्ट और भिन्न हो गई थी, यह परिवर्तन के इस छंद से स्पष्ट है—

अहे वासुकि सहस्र फन।
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरंतर;
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर।
शतशत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर,

घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर !
मृत्यु तुम्हारा गरल-दंत, कंचुक कल्पांतर !
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र-कुंडल'
दिङ्मंडल !

परन्तु इस भाषा-शैली के विकास का अपना अलग इतिहास है और द्विवेदीयुग के प्रतिनिधि काव्य की भाषा शैली से अधिक संबंधित नहीं है।

फिर भी यह निश्चित है कि १६२० तक 'छायावाद' का रूप सुस्पष्ट नहीं हो सका था और उसकी रचनाएँ केवल प्रयोगात्मक कही जा सकती हैं। उनका ऐतिहासिक महत्व अवश्य है। इस समय काव्य का प्रतिनिधि रूप द्विवेदीजी के काव्य-संबधी आदर्शों और उनकी कविता से प्रभावित था। अपने सीमित क्षेत्र में चाहे उसने इतनी बड़ी क्रांति नहीं की हो कि जनता का ध्यान सहसा आकृष्ट हो गया हो, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि भाषा, छंद, शैली और विषय को सीधे-सादे ढङ्ग से रखने की कला का बड़ा विकास इस युग में हुआ।

द्विवेदीयुग के काव्य के अनेक विषयों की ओर हमने पहले संकेत कर दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक काव्य में धर्मभावना की प्रधानता रही। वैष्णव और संत काव्य की परम्पराएँ उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों को भी प्रभावित करती रहीं। द्विवेदीयुग में अवतारवाद और निर्गुण भावना दोनों किसी न किसी रूप में चलती रहीं। मैथिलीशरण गुप्त की वैष्णव भावना प्रधान कविताएँ और आर्यसमाजी काव्य इन दोनों धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। वैष्णवभावना का एक तरह से इस युग में पुनरुत्थान हुआ। आर्यसमाजी प्रचार के फलस्वरूप सनातनियों में धर्मप्राणता बढ़ी। इसीलिए जनता में वैष्णव विचारधारा लोकप्रिय हो गई। मैथिलीशरण

गुप्त की लोकप्रियता का एक कारण यह भी है कि उन्होंने इस जन-भावना को समझा और राम, कृष्ण, बुद्ध, शक्ति, वैष्णव संत इत्यादि विषयों को अपना विषय बनाया। ईश्वरावतार (राम-कृष्ण), देवी-देवता, पौराणिक महापुरुष और मध्यकालीन वीर द्विवेदीयुग के काव्य के प्रियविषय हैं। परन्तु इस युग क विशेषता है कि इनमें मानवता का भी समावेश हो गया है। मध्ययुग की चमत्कारों की प्रियता बहुत कुछ जाती रही है। राम और कृष्ण का चित्रण करते हुए कवि उन्हें मनुष्य-सुलभ दुखों-सुखों के बीच ही प्रतिष्ठित करना चाहता है। 'साकेत' की भूमिका में मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं—

राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए, सभी कहीं नहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।

'साकेत' में उन्होंने लक्ष्मण, ऊर्मिला और कैकयी को राम के कुटुम्ब में जिस अन्यतम मानव-भाव से स्थापित किया है, लक्ष्मण-ऊर्मिला की जो प्रेम-वियोग की परिस्थितियाँ गढ़ी है, और कैकयी के पश्चात्ताप की जो नई मनोभूमि तैयार की है, वह मध्ययुग के भक्तों के लिए स्वप्न में भी दुष्प्राप्य थी। स्पष्ट है कि आधुनिक युग के वैष्णव-काव्य के राम-कृष्ण मध्ययुग के वैष्णवकाव्य के राम-कृष्ण नहीं हो सकते। 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'द्वापर' और अन्य अनेक कम सफल ग्रन्थों में देवताओं और अवतारों के संबंध में नए दृष्टिकोण का विकास द्विवेदीयुग में ही हो जाता है।

१९०५ के बंगभंग के आन्दोलन के बाद देश में जो राष्ट्रभावना की लहर आई, वह बराबर बढ़ती चली गई। पहले-पहले हिन्दू जाती-

यता की भावना और इस राष्ट्रीय भावना में कोई अंतर नहीं था। फलस्वरूप १९१२ में लिखी गई 'भारत-भारती' में हिन्दू-हितों को ही राष्ट्रीय हित कहकर उपस्थित किया गया है। यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है कि यही पुस्तक १९२१, ई० के सत्याग्रह आन्दोलन में 'गीता' बन गई और देश के कारागारों के पत्थर इसके सरल परंतु संगीत-मय पाठ से प्रतिध्वनित हो उठे। भारतीय इतिहास और पुराण के महावीरों, मध्ययुग के वीर हिन्दुओं और सामयिक राष्ट्रीय वीरों के गान से काव्य मुखर हो उठा। कंसवध (१९२१), कीचकवध (१९-२१), रंग में भंग (१९०९), वीर पंचरत्न (१९०९-१९१४), मौर्य-विजय (१९१४), प्रणवीर प्रताप (१९१५), विकटभट (१९१५), गुरु-कुल (१९२५), वीर हमीर (१९२३), सती पद्मिनी (१९१५) द्विवेदी-युग की वीर-प्रशस्तियाँ हैं। इनमें साहित्य की मात्रा चाहे अधिक नहीं हो, परन्तु अपने युग की जनता में प्राण डालने में ये सफल हुई हैं।

परन्तु सबसे सुन्दर चीज़ इस युग के काव्य में यह थी कि इसमें पहली बार सामान्य जनता की ओर कवि की दृष्टि गई। राजे-महाराजों और अवतारों—देवताओं से हटकर कवि ने पहली बार दीनों, हीनों उपेक्षितों को देखा। संत-महंतों पर उसने फबतियाँ कसीं, जैसे—

चित्रकूट के घाट पर भइ लंठन की भीर।
बाबा खड़े चला रहे, नैन सैन के तीर॥

(ईश्वरीप्रसाद शर्मा)

भिक्षुक, पनिहारिन, कृषक-बधू, नाविक-बधू, किसान, अनाथ, कृषक-वर्ग—ये सब काव्य के नए विषय थे। मध्यवित्त समाज के कवि का ध्यान पहली बार इस उपेक्षित जनता की ओर गया। उसकी इनके

प्रति सहानुभूति अधिकांश में बौद्धिक थी, इससे उसकी महत्ता कम नहीं हो जाती ।

प्रेम। द्विवेदीयुग की स्थाई वृत्ति नहीं है, यह इससे स्पष्ट है कि प्रेम-संबन्धी कोई स्वतंत्र रचना द्विवेदीयुग के प्रतिनिधि कवियों ने हमें नहीं दी, यद्यपि इसी समय विकसित 'छायावादी' काव्य में प्रेम' प्रधान विषय रहा है। द्विवेदी काव्य स्पष्टतः अतिनैतिकता और शृंगार विमुखता से ग्रसित था। प्रेमपथिक (१६१४), मिलन (१६१७), पथिक (१६२०), ग्रन्थि (१६२०), आँसू (१६२५) द्विवेदीयुग के भीतर ही आते हैं, परन्तु इनका संबन्ध काव्य की एक नितान्त नवीन परिपाटी से है, द्विवेदीयुग के काव्य से नहीं। हाँ, प्रकृति पर द्विवेदीयुग की कविता में बहुत कुछ लिखा गया, यद्यपि श्रेष्ठ प्रकृति काव्य के नाम पर बहुत थोड़ी कवितायें आज इस काव्य में मिल सकेंगी। इस क्षेत्र में भी समसामयिक छायावाद काव्य ने बाजी मार ली। द्विवेदीयुग के काव्य की प्रकृति-सम्बन्धी कविता की सब से अच्छी उड़ान देखिये—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखा पर थी अवराजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।
विपिन बीच विहंगम बृन्द का,
कलनिनाद समुत्थित था हुआ।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली,
उड़ रही नभमंडल मध्य थी।

इसे 'पंत' के 'उच्छ्वास' की इन पंक्तियों से मिलाइये—

पावस ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश ;

पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार,
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा बैठा है विशाल

× × ×

—उड़ गया, अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार पारद के पर!
रव-शेष रह गए हैं निर्झर!
है टूट पड़ा भू पर अंबर!
धँस गए धरा में समय शाल!
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल!
—यों जलद-यान में विचर, विचर,
था इन्द्र खेलता इंन्द्र जाल!

यही नहीं, भाषा, मूर्तिमत्ता और छंदों की विभिन्नता एवं कलात्मकता में भी 'छायावादी' कवि शीघ्र ही द्विवेदीयुग के कवियों से बहुत आगे बढ़ गये, परन्तु इन बातों से इस काव्यधारा और उनके कवियों की महत्ता कम नहीं हो जाती। प्रत्येक काव्यधारा और प्रत्येक युग के कवियों की अपनी सीमाएँ होती हैं। इन सीमाओं के भीतर वह कहाँ तक सफल हैं, परखने का विषय केवल यह है।

१०

छायावाद

'छायावाद' आधुनिक हिंदी कविता की एक नई प्रवृत्ति है जिसके जन्म एवं विकास का समय १९०९ ई० से १९३६ ई० तक माना जा सकता है। परन्तु छायावाद की कविता अब भी हो रही है; और यद्यपि साहित्यिक आंदोलन के रूप में वह महत्वपूर्ण नहीं है, परन्तु परंपरा के रूप में उसका पालन अब भी हो रहा है। १९१३ ई० के लगभग से प्रसाद के 'आँसू' और सुमित्रानन्दन की 'वीणा' से खड़ी बोली हिन्दी में कविता की जो धारा चली, उसे छायावद के नाम से पुकारा गया। साधारण जनता में यह नाम अब भी वर्तमान कविता के लिए चल रहा है। जिस किसी ने इस नाम का सूत्रपात किया, उसका उद्देश्य 'व्यंग' था। उसे एक नई श्रेणी की कविता से परिचय प्राप्त हुआ जिसमें उसने बंगाल के श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' और अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों विशेषतयः वर्डसवर्थ आदि की 'मिस्टिक' कही जाने वाली कविताओं की छाया देखी। बंगाल में जिस अर्थ में 'रहस्यवाद' शब्द का उपयोग हो रहा था, ठीक उसी अर्थ में, परन्तु निश्चय ही व्यंग से, क्योंकि हिन्दी कविता बङ्गाली की नक़ल समझी जाती थी, छायावाद का प्रयोग हुआ। धीरे धीरे छायावाद ने बङ्गाली भावुकता और रहस्यवादी आध्यात्मिक कविता के सिवा अनेक अंगों का विकास कर लिया, परन्तु नाम चलता रहा। अंत में व्यंग का भाव भी दूर हो गया, परन्तु इसके लिये बहुत समय लगा। अभी हाल तक लंबे बाल, अस्पष्ट भावना,

कठिन शब्दावली का प्रयोग, सतकता रहित उच्छृङ्खल व्यवहार, अव्यवहारिकता—ये छायावादी कवि के लक्षण समझे जाते थे। उसे कल्पना जीवी समझा जाता था।

वैसे एक साँस में आधुनिकतम कविता को 'छायावाद' कह दिया जाता है, परन्तु इस 'छायावाद' के कई अंग हैं—

(क) प्रेमोपाख्यान इसकी प्रमुख रचनाएं हैं प्रेमपथिक (१६१३, मिलन (१६१८), पथिक (१६२०), स्वप्न (१६२६), ग्रंथि (६३०१) और निशीथ (१६३२)।

(ख) उच्छ्वासपूर्ण भावना-प्रधान कविताएं—इनमें प्रमुख हैं प्रेम (१६१५), उच्छ्वास (१६२२), आँसू (१६२६), अभिशाप (१६३०)। इस काव्य में पृष्ठभूमि में प्रेम और विरह तो है, परन्तु आलंबन इतना अस्पष्ट है कि कविता की प्रत्येक पंक्ति का ठीक-ठीक अर्थ समझा भी नहीं जा सकता। इन सभी रचनाओं में कल्पना और भावुकता की प्रधानता है।

(ग) रहस्यवाद की कविता—यह इस काव्य की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति है। इस कविता-धारा के प्रमुख कवि हैं जयशंकरप्रसाद (कानन-कुसुम) १६१३ ; चित्राधार १६१८ ; झरना १६२७ (द्वितीय संस्करण) ; लहर १६३५ ; कामायिनी (१६३७)। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (अनामिका १६२२ ; परिमल १६३० ; गीतिका १६३६ ; अनामिका १६३८ ; तुलसीदास १६३८)। सुमित्रानंदन पंत (उच्छ्वास, १६२२, पल्लव १६२७ ; वीणा १६२७ ; ग्रंथि १६३० ; गुंजन १६३२ ; युगांत १६३७ ; युगवाणी १६३६ ; ग्राम्या १६४० ; पल्लविनी १६४०)। महादेवी वर्मा (नीहार १६३० ; रश्मि १६३२ ; नीरजा १६३५ ; सांध्यगीत १६३६ ; यामा १६४० ; दीपशिखा १६४२)। रामकुमार वर्मा (अभिशाप १६३०) ; अंजलि १६३१ ; रूपराशि १६३३ ; निशीथ १६३३, चित्ररेखा १६३३ ;

चंद्रकिरण १९३७) और भगवतीचरण वर्मा (मधुकण १९३२ प्रेमसंगीत १९३७) हैं। अन्य अनेक कवियों ने रहस्यवादी काव्य की धारा में योग दिया है। इनमें महत्त्वपूर्ण हैं मुकुटधर पांडेय, रामनाथ सुमन, मोहनलाल महतो, शांतिप्रिय द्विवेदी, सियारामशरण गुप्त, मंगलप्रसाद विश्वकर्मा; बालकृष्ण राव, जनार्दन झा द्विज, नरेन्द्र, तारा पांडेय, 'बच्चन' और इलाचंद्र जोशी। इन सभी के काव्य का विशद अध्ययन अभी संभव नहीं हो सका है।

यह स्पष्ट है कि इस शताब्दी का पहला दशक बीतते-बीतते इस नये काव्य (छायावाद) की धारा ऊपर आने लगती है। १९००-१९१० ई० की सरस्वती का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि द्विवेदी युग की वृत्तात्मक, गद्यात्मक कविताओं के साथ अंग्रेज़ों के उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक कवियों की रचनाओं की ओर भी हमारे कवियों का ध्यान जाने लगा था। कूपर, ब्लैक, लांगफैलो, बाइरन और शैली की कुछ रचनाएँ इस पहले दशक में अनुवाद के रूप में सामने आईं। परंतु प्रवृत्ति के रूप में इस धारा का जन्म 'इन्दु' (मासिक पत्र, काशी, १९०९) के जन्म से मानना चाहिए। 'सरस्वती' (१९००-१९१९) और 'इन्दु' (१९०९-१९१६) छायावाद के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वास्तव में इन्हीं पत्रों में ये नई कविताएं प्रयोग रूप में सामने आती हैं। पहला प्रकाशित कविता संग्रह 'काननकुसुम' (१९१३) है। १९-२६ में 'आँसू' और १९२७ में 'वीणा' के प्रकाशन के साथ इस काव्यधारा में स्थायित्व आ गया। आगे के दस वर्ष इस धारा के सबसे उत्कृष्ट वर्ष हैं।

छायावाद के तीन पहले महत्वपूर्ण कवि जयशङ्कर प्रसाद, सुमित्रा-नंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' हैं। इन कवियों ने हिन्दी ाव्य-क्षेत्र में उस समय पदार्पण किया जब सारा काव्य द्विवेदी-युग

की जड़ता और इतिवृत्तात्मकता से निष्क्रिय और निष्प्राण हो रहा था। यह काव्य मूलतः नैतिकतावादी था। नारी-सौन्दर्य, प्रेम, कल्पना विलास, जीवन के आनंद का स्वच्छन्द प्रकाशन, इनका इस काव्य में जरा भी स्थान नहीं है। नए खड़ी बोली काव्य को गढ़ने के लिए आचार्य द्विवेदी ने मराठी काव्य को अपना आदर्श माना है। आधुनिक भारतीय भाषा के काव्यों में मराठी का काव्य सबसे अधिक पुरातनवादी है। वही संस्कृत के वृत्त, वही रूढ़ पदावली, वहीनैतिक-वाद। इसका फल यह हुआ कि हिंदी को द्विवेदी युग की कविता को अच्छा नेतृत्व न मिला और यह जड़ रूढ़ि बन गई। श्रीधर-पाठक और मैथिलीशरण के काव्य को छोड़कर उसमें क्या धरा था? स्वयं श्रीधर पाठक अँग्रेज़ी के १८वीं सदी के कवि गोल्डस्मिथ, पोप, ड्राइडन आदि से प्रभावित हैं। प्रत्येक युग का साहित्य उस युग के अनुरूप होता है। १९वीं शताब्दी के अंतिम दशक और बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशक अतिनैतिकवादी थे। क्रांति का कहीं नाम न था। रूढ़ियों, परंपराओं का समर्थन जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता समझी जाती थी। इसी से कवियों की दृष्टि आचारवादी १८वीं सदी के क्लासिकल काव्य और मराठी कविता तक सीमित रही।

परंतु १९वीं शताब्दी के अंत होते-होते देश बंगला काव्य से परिचित हो रहा था। माइकेल, विहारीलाल, हेमचन्द्र और रवीन्द्र हिन्दी के प्रदेश में भी पहुँचे। इनमें रवीन्द्र की कविता पर अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावाद, उपनिषदों के रहस्यवाद, बंगला की भावुकता और वैष्णव भक्ति का प्रभाव था। १९१३ ई० के लगभग उनके काव्य के अनुकरण से ये प्रभाव भी हिन्दी में आ गये। परंतु रवीन्द्रनाथ ने अकेले छायावाद का जन्म दिया, यह कहना अत्युक्ति होगी। १९०० ई० के बाद से ही 'सरस्वती' में कीट्स, शेली, वर्ड्सवर्थ, ब्लेक आदि

रोमांटिक कवियों के अनुवाद प्रकाशित होने लगे थे। इन अनुवादों ने अनुवादकर्त्ताओं और लेखकों को प्रभावित किया। दूसरे, अंग्रेज़ी की उच्च कक्षाओं में रोमांटिक काव्य पढ़ाया जाने लगा था और नये हिन्दी के कवि इससे अपरिचित नहीं रह सके। पंत द्वारा अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य का प्रभाव मुख्य रूप से हिन्दी में आया। 'पन्त' और 'निराला' दोनों रवीन्द्र के काव्य से प्रभावित हैं। पंत के 'पल्लव' और निराला की कितनी ही कविताओं में रवीन्द्र के स्वर बोल रहे हैं। निराला ने विवेकानन्द के अद्वैत भक्ति के काव्य से स्फूर्ति ली। प्रसाद ने रवीन्द्र की गीतांजलि के प्रभाव को ग्रहण किया। 'झरना' की कविताएं इसका उदाहरण हैं। परंतु उन्होंने इस प्रभाव को शीघ्र ही छोड़ दिया। उर्दू काव्य की व्यंजना शैली और भावुकता एवं संस्कृत मुक्तकों एवं आचार्यों की स्थापना से इंगित लेकर उन्होंने अपने लिये एक विशिष्ट-काव्य-शैली का निर्माण किया।

केवल एक दशक के भीतर (१६१०-२०) हिन्दी काव्य में महान क्रांति हो गई। जिन लोगों ने इसका सूत्रपात किया वे बंगला या अंग्रेज़ी काव्य के पंडित थे। जितनी शीघ्रता से यह क्रांति हुई उसका उदाहरण इस देश की कविता के इतिहास में मिलना असंभव है। इस क्रांति के कारण पाठक कवियों से बहुत पीछे रह गये। उन्होंने कवि पर अस्पष्टता, छायात्मकता, अनैतिकता, पाश्चात्य काव्य के अंधानुकरण, रवीन्द्र की जूठन—सौ तरह के आक्षेप लगाये। कवि सौन्दर्योन्मुख था। वह लापरवाही से गाता हुआ बढ़ता गया। वह कहता गया—

चीटियों की सी काली पाँति
    गीत मेरे चल फिर निशि भोर
फैलते जाते हैं बहु भाँति
    बंधु, छूने आग जग के छोर

इस अहंता की भावना ने पाठक-कवि का विरोध बढ़ाया। लगभग एक दशक तक यह विरोध चलता रहा। १६३० के लगभग साधारण जनता में यह छायावादी कवि लोकप्रिय हो चुके थे और समीक्षकों ने उनके काव्य में सौन्दर्य का पता लगा लिया था। १६३५-३६ तक हिंदी काव्यजगत पर छायावाद का राज रहा। इसके बाद धीरे धीरे उसके प्रति प्रतिक्रिया ने जन्म लिया और प्रगतिवाद नाम की एक नई धारा प्रकाश में आई। 'छायावाद' के अग्रगण्य कवि पंत इसके प्रवर्तक बने।

ऊपर जो लिखा जा चुका है कि १६१३ ई० में जब रवि बाबू की गीतांजलि हिन्दी संसार में आई तो प्रसाद उससे प्रभावित हुए। काशी क्षेत्र में रहते हुए शैव भक्तों के बीच में पले प्रसाद आत्म-समर्पण और अदृश्य सत्ता की गहरी अनुभूति के संदेश के प्रभाव से बच सकते, ऐसा असंभव था। 'गीतांजलि' का प्रभाव पंत और निराला की कुछ कविताओं पर भी है, परन्तु यह प्रभाव कहीं भी अधिक नहीं है। हिन्दी के इन तीनों कवियों ने तीन अलग-अलग दिशाएँ ग्रहण कीं और एक नए प्रकार के काव्य का सूत्रपात किया। प्रसाद ने अभिव्यंजना की एक नई शैली निकाली और प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द को अपना विषय बनाया। 'झरना'को छोड़कर उनकी अन्य कविताओं पर रवि बाबू का जरा भी प्रभाव नहीं है। उनकी अपनी शैली, अपनी, मूर्तिमत्ता है। पंत ने अंग्रेज़ी के रोमांटिक (स्वच्छंदतावादी) कवियों के काव्य का सहारा लिया और 'छाया', 'बादल', 'ज्योत्स्ना' जैसी कविताएं लिखकर प्रकृति और मानव के सहज-सुन्दर परन्तु रहस्यमय संबध की ओर संकेत किया। पंत नारी सौन्दर्य, प्रेम और प्रकृति के कवि हैं। जीवन की सभी छोटी-मोटी भंगिमाओं के प्रति जितना प्रेम उनकी कविताओं में लक्षित है, उतना प्रेम अन्य स्थान पर नहीं मिलेगा। निराला ने रवि बाबू के

प्रौढ़ काव्य से बल प्राप्त किया। हिन्दी के अन्य कवियों की संवेदना केवल 'गीतांजलि' तक सीमित रही। रवि बाबू की 'उर्वशी' जैसी विराट चित्रपटी से वह अपरिचित नहीं थे। निराला ने अपने लिए एक नई परम्परा स्थापित की। 'विधवा' और 'भिक्षुक' जैसी प्रतिदिन की संवेदनाओं को लेकर उन्होंने काव्य का सुन्दर प्रासाद खड़ा किया। उनकी क्लासिकल प्रकृति ने उन्हें 'राम की शक्ति उपासना', 'जागो फिर एक बार' और तुलसीदास जैसे खंड काव्यों की ओर बढ़ाया। इस प्रकार गीतांजलि का प्रभाव अधिक दिन नहीं टिक सका।

परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इन तीनों कवियों ने काव्य-परम्परा से हटकर एक नये काव्य की नींव डाली। जितनी बड़ी क्रांति 'छायावादी' काव्य ने की, उतनी बड़ी क्रांति हिन्दी कविता के किसी भी युग में नहीं हुई थी। भाव, भाषा, शैली, व्यंजना—सभी में शत-प्रतिशत क्रांति थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे प्रगतिशील विचारक और आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल जैसे विचारशील आलोचक नए काव्य को परम्परा-भ्रष्ट और उच्छृखंल समझने लगे। वास्तव में जितनी शीघ्रता से काव्य के विषय, अभिव्यक्ति के ढङ्गों और छन्दों एवं शैलियों में परिवर्तन हुआ, उतनी शीघ्रता से जनता कवियों का साथ नहीं दे सकी। कवि-सम्मेलनों में, मासिक पत्रों में, घर-बाहर सर्वत्र इन नये कवियों का विरोध हुआ। मासिक-पत्रों और साप्ताहिकों में समय-समय पर 'हाला-प्याला' लिए, लंबे बाल, बुरे हवाल, आकाश की ओर ताकते हुए या किसी सुन्दरी से प्रणय निवेदन करते हुए नये कवि (छायावादी कवि) के जो चित्र निकलते रहे हैं, वे उस विरोध की सूचना देते हैं जिन्हें इन कवियों को पाठकों की ओर से सहना पड़ा। फिर भी, अँग्रेज़ी और बंगला काव्य के अध्ययन के सहारे, षटऋतु आचार्यों के अभिव्यंजनावाद और उर्दू

की व्यंजनात्मक शैली से प्रभावित हो इन नये कवियों ने छाया और प्रकाश के जो नए मार्ग हिन्दी कविता में खोले, वह अत्यन्त आकर्षक थे।

अतः स्पष्ट ही 'छायावाद' शब्द का प्रयोग वर्तमान युग की पहले महायुद्ध (१६१४–१८) और बाद की बहुमुखी हिन्दी कविता के लिए हुआ है और उसमें अनेक प्रवृत्तियों के साथ आध्यात्मिक रहस्यवाद, सौन्दर्यनिष्ठा, लाक्षणिकता एवं मनुष्य-जीवन एवं प्रकृति के प्रति नवीन दृष्टिकोण को प्रमुख स्थान मिला है। अनेक प्रवृत्तियों में अस्पष्ट राष्ट्रीय भावनाएं और सामाजिक उद्‌गार भी आ जाते हैं। परन्तु यह शब्द का व्यापक अर्थ है। संकीर्ण अर्थ में लेने से भी शब्द के ठीक-ठीक अर्थ करने में सुविधा नहीं होगी। हाँ, उसकी विशेषताओं की ओर इस प्रकार इंगित किया जा सकता है :

(१) छायावाद-काव्य में आत्माभिव्यक्ति की ओर अधिक स्थान दिया गया है। इसी से उसमें भाव की प्रगाढ़ता और पद की गेयता सहज ही प्रतिष्ठित हो जाती है। परात्म-बोधक कविताएँ और खंड-काव्य भी लिखे गये थे, परन्तु उनमें भी तीव्रानुभूति के स्वर ऊपर हो उठे हैं और कवि आत्मविमुख होकर नहीं बैठ सका है।

(२) परमात्मा आत्मा के सम्बन्ध में छायावाद काव्य अद्वैतावस्था को मानकर चलता है। प्रेम, विरह और करुणा की भावना की प्रधानता इसीलिए है कि इनके द्वारा ही इस अवस्था पर पहुँचा जा सकता है। महादेवी, रामकुमार वर्मा और निराला की कितनी ही कविताएँ इसी प्रेममूलक अद्वैत पर खड़ी हैं।

(३) छायावाद के कवियों का आग्रह उत्तमोत्तम आदर्श सौन्दर्य-सृष्टि की ओर है। वे सुन्दर शब्दों, सुन्दर भावों और सुन्दर रूप में खो गये हैं जैसे संसार में असुन्दर का स्थान ही नहीं हो। इस प्रकार वे रोमांटिक और पलायनवादी कहे जाने लगे। उन्होंने जिस जीवन

की कल्पनात्मक अनुभूति उत्पन्न की, वह हमारे साधारण प्रतिदिन के परिचित जीवन से भिन्न था। पंत और रामकुमार वर्मा अपने काव्य में इसी सौन्दर्यान्वेषण के कारण सौन्दर्यनिष्ठ कवि (Aesthare) बन गये। उन्होंने अलौकिक श्रृङ्गार में भी अतीन्द्रियता भर दी है जिससे उन पर अशरीरी भावनाओं की भक्ति का दोषारोपण किया जा सकता है। वास्तव में सौन्दर्य के प्रति उनका दृष्टिकोण आश्चर्य, भक्ति और अतीन्द्रिय आसक्ति का ही अधिक है। इस तरह उनकी कविता रीतिकाल की श्रृङ्गारिक कविता के एकदम विरोध में जा पड़ती है जहाँ स्थूल श्रृंगार, अभिसार, चुम्बन और परिरंभण के सिवा और कुछ है ही नहीं। छायावाद की कविता ने इसी परम्परागत श्रृंगार-भावना के प्रति विद्रोह किया।

(४) छायावाद की कविता में लाक्षणिकता की प्रधानता है। इसे शैली की विशिष्टता कहना ही ठीक होगा। इसके कई रूप हैं। कहीं तो अन्योक्ति और वक्रोक्ति का आश्रय लिया गया है, कहीं अलंकारों के वक्र लाक्षणिक और अंग्रेज़ी ढंग के प्रयोग मिलते हैं। कहीं प्रतीकों का प्रयोग है। इन सब ने एक स्थान पर मिल कर नये पाठक के लिए कितने ही पद्यों में कूट-काव्य की सृष्टि कर दी है। इनमें सबसे अधिक कठिनता प्रतीकों के सम्बन्ध में है। 'प्रसाद' ने कहा है -- "आलंबन के प्रतीक उन्हीं के लिए अस्पष्ट होंगे जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुनती है।" परंतु ये प्रतीक इतनी अस्पष्टता, इतनी शीघ्रता और अनिश्चितता के साथ पाठक के सामने आये कि वह उन्हें पकड़ ही नहीं सका।

(५) छायावाद काव्य में "विश्व सुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद है।" इसके अतिरिक्त प्रकृति और मनुष्य में रागात्मक

सम्बन्ध इसी प्रकार के काव्य में पहली बार सामने आता है।

(६) जीवन के प्रति दृष्टिकोण दुःख और निराशापूर्ण है। सारा छायावाद-काव्य ही (प्रसाद और निराला की कुछ कविताओं को छोड़ कर) दुःख-प्रधान है। यह दुःख कहीं आध्यात्मिक है, कहीं लौकिक। अधिकांश में इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत असफलताओं से है जिन्होंने धीरे-धीरे दुःख का एक दर्शन दे दिया है। जिसका आधार अद्वैत दर्शन पर ही रखा गया है। कितने ही कवियों ने दुःख की साधना को ही काव्य की श्रेष्ठतम कथा मान लिया है।

(७) हम यह मानने को तैयार हैं कि छायावाद की ये विशेषताएँ संपूर्णतः मौलिक नहीं हैं। इनमें से कुछ के लिए उसे कबीर, रवीन्द्र या शैली का मुँह जोहना पड़ा है, परंतु धीरे-धीरे इस काव्य नें अपना व्यक्तित्व विकसित कर लिया जिसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि हिन्दी काव्य में कितने हो वर्षों तक इसकी रूढ़ियाँ चलती रही हैं। कवियों ने धीरे-धीरे कवि-कार्य में कुशलता प्राप्त कर ली है। और उन्होंने जनता में प्रतिष्ठा भी प्राप्त की है। सारे हिन्दी साहित्य में किसी भी युग के कवियों को जनता तक पहुँचने के लिए इतना कठिन प्रयत्न कभी नहीं करना पड़ा, न उन्हें इतना कम समय लगा। स्पष्ट है कि जनता इस लगभग शत-प्रतिशत परिवर्तन के लिये तैयार नहीं थी। हमारी अपनी काव्य- परंपरा इतनी पीछे छूट गई थी कि इस काव्य को समझने के लिए उससे सहारा नहीं लिया जा सकता था। नये मूल्यों का सृजन करना पड़ा। आलोचना के नये मापदंड बनें। तब कहीं यह काव्य जनता तक पहुँचा।

✓कोई भी काव्य अपने युग से बहुत ऊँचा नहीं उठ सकता। छायावाद काव्य पर अस्पष्टता, अमौलिकता, अव्यावहारिकता, अनैतिकता, ईमानदारी की कमी और अशरीरीपन—ये कितने ही दोष लगाये जाते हैं, परंतु यदि सच पूछा जाय तो यह अपने

युग का श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है। मध्यदेश का मध्य वर्ग जिन बौद्धिकता के ह्रास, भावुकता के प्राबल्य और मन-वाणी के सामाजिक और राजनैतिक नियंत्रणों में से-गुज़र रहा था, उसी के दर्शन इस काव्य में भी मिलेंगे। गांधीवाद में दुःख, कष्ट-सहन और पराजय को राष्ट्रीय साधना के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। समाज में प्रेम कहना पाप था। मध्यवर्ग में साकार उपासना पर से विश्वास उठ रहा था, परंतु वैष्णव भावना को बिल्कुल अस्वीकार करना असंभव था। आर्थिक और राजनैतिक संकटों ने कमर तोड़ दी थी। महायुद्ध (१९१४-१८) के आरम्भ के प्रभात के स्वप्न युद्ध-समाप्ति पर कुहरे के धरोहर बन गये। ऐसे समय काव्य का रूप ही क्या हो सकता था? रवीन्द्र के काव्य ने इस प्रदेश की मनोवृत्ति के अनुकूल, ही उसकी काव्य चिंता को यह विशिष्ट रूप दिया। 'चित्राधार' और 'कानन-कुसुम' की कितनी ही कविताओं पर और 'साधना' के गद्यगीतों पर रवीन्द्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है, परंतु बाद के काव्य के विकास का अपना अलग इतिहास है।

ऊपर जो कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि छायावाद के प्रवर्तन का श्रेय अलग-अलग प्रसाद, पंत और निराला को है। तीनों रवीन्द्रनाथ के काव्य से प्रभावित हुए, परंतु शीघ्र ही उन्होंने अपने लिए स्वतंत्र पथ प्रशस्त कर लिये। तीनो कवियों ने नए काव्य में नये-नये वातायन खोले। व्यक्तित्व की प्रधानता तीनों में थी। तीनों कवि अभिव्यंजना की नई-नई शैलियां लेकर चले और तीनों ने भाव-भूमि के प्रसार के प्रति आग्रह दिखाया। पश्चिमी कवियों का सीधा प्रभाव पंत के काव्य पर ही अधिक पड़ा। प्रसाद और निराला प्राचीन आर्य-साहित्य की परंपरा से भी विशेष रूप से प्रभावित हुए और बंगला और अंगरेजी काव्य में जो सुन्दर और श्रेष्ठ था, उसका सम्बन्ध उन्होंने प्राचीन आर्य-साहित्य से जोड़ा। इन तीनों कवियों को

हम 'छायावाद' को 'वृहद्त्रयी' कह सकते हैं। १६३० तक इन तीनों कवियों का व्यापक प्रभाव नई पीढ़ी पर पड़ने लगा था। इस प्रभाव ने अनेक नये कवियों को जन्म दिया। इनमें सबसे अधिक लोकप्रियता रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा और महादेवी वर्मा को मिली। इन्हें छायावाद की 'लघुत्रयी' कहा जा सकेगा। रामकुमार वर्मा और महादेवी वर्मा का एक मात्र विषय था आध्यात्मिक रहस्यवाद। इन्होंने इस विषय के अनुरूप भाषा गढ़ी, नई-नई शैलियों के प्रयोग किये। विषय की एकरसता इनमें मिलेगी, परन्तु इस एक विषय में भाव और विचार के तीनों सतक मिल जायेंगे।

भगवतीचरण वर्मा का काव्य महादेवी और रामकुमार के काव्य से भिन्न है। वह बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के काव्य की परम्परा में अधिक आता है। अध्यात्म उनका प्रिय विषय नहीं रहा। प्रेम, प्रकृति और विद्रोह यही तीन उनके प्रिय विषय हैं। उनकी कविता में रोमांटिक काव्य के उस रूप के कोई दर्शन नहीं होते जो हम प्रसाद, पंत और निराला में पाते हैं। न प्रकृति के प्रति रहस्य-भावना है, न अध्यात्म की उलझन। उन्हें हम आधुनिक हिंदी कविता का बाइरन कह सकते हैं। उद्दाम वासना, उत्कट लालसा, अदम्य विद्रोह उनके विषय हैं। भाषा में वह ओज, वह मार्दव है जो अन्य छायावादी कवियों में नहीं है। उनकी आँखें रहस्य के अँधेरे में खो नहीं जातीं। १६३०-३२ में जब छायावाद अपने पूर्णोत्कर्ष में था, इस कवि ने मादक विद्रोही स्वर में, गर्व भरी नई वाणी में अपने निजी दुख-सुख कह कर छायावाद काव्य में एक नई लीक स्थापित कर दी।

इन दोनों 'त्रयी' के बाद जो कवि रह जाते हैं उनमें मोहनलाल महतो, रामनाथ सुमन, हरिकृष्ण प्रेमी और सियाराम शरण गुप्त अधिक प्रौढ हैं। काल-क्रम की दृष्टि से वे वृहदत्रयी के साथ हैं।

इनमें महतो की कविता पर रवीन्द्र की रहस्यात्मक कविताओं और गीतों का बहुत अधिक प्रभाव है। सियारामशरण ने छंदों के अनेक नये प्रयोग किये हैं और उनमें विषय-वैभिन्न्य भी अन्य कवियों से अधिक है। वे छायावाद और द्विवेदीयुग की कविता के बीच की कड़ी हैं। उनके अग्रज मैथिलीशरण गुप्त मूलतः द्विवेदीयुग के कवि हैं, परन्तु 'झंकार' (१६२६) में उनकी वे कविताएं संग्रहीत हैं जो छायावाद का प्रभाव ग्रहण कर आगे बढ़ती हैं। एक और कवि जिनका बहुत अलग अस्तित्व है माखनलाल चतुर्वेदी हैं। उन्होंने राष्ट्रीय कविता को नया रूप दिया है। लाक्षणिकता और वाग्भंगिमा उन्हें विशेष प्रिय है। इस विषय में वे 'प्रसाद' के समकक्ष आते हैं। भाषा और शैली के अटपटे, कलाहीन प्रयोग के भीतर से वह अपनी बात कहने में सफल हुए हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर', आरसीप्रसाद सिंह, उदयशंकर भट्ट और नरेन्द्र शर्मा ने अनेक प्रकार से छायावाद काव्य की परम्परा को आगे बढ़ाया है। इन सब कवियों पर पंत का प्रभाव विशेष रूप से है, परन्तु उनमें अपना भी बहुत कुछ है। दिनकर का ओज और नरेन्द्र की सुकुमारता छायावाद काव्य का गौरव हैं।

'बच्चन' (हरिवंशराय) की कविताएँ मूलतः स्वच्छंदवाद के अंतर्गत आती हैं परन्तु उनमें क्षणिक आनन्दवाद की एक नई धारा बह रही है। उमरखैयाम की रूबाइयों के अनुवाद (खैयाम की मधुशाला, १६३५) के साथ बच्चन ने हिंदी कविता में प्रवेश किया। 'क्षणिकवाद', 'आनंदवाद', 'हालावाद' कहकर उनकी कविताओं की खिल्ली उड़ाई गई। उनके गीतों पर यह लांछा लगाई गई कि उनमें वासना भरी पड़ी है। 'कवि की वासना' शीर्षक कविता लिख कर कवि को अपने विरोधियों का मुँह बंद करना पड़ा। धीरे-धीरे उनकी कविता के आनन्द और मादकता के स्वर म्लान होने लगे और मधुकलश

(१६३७) के बाद वे घोर निराशावादी के रूप में उपस्थित हुए। 'निशानिमत्रण' (१६३८) और एकांत-संगीत (१६३६) में दुःख, करुणा, निराशा और सूनेपन के स्वर इतने ऊँचे हो उठे हैं कि एक प्रकार से कवि का साहित्य आत्मघाती बन जाता है। 'आओ, सो जायें, मर जायें', कहकर कवि जीवन के द्वन्दों की समस्या हल कर डालता है। परन्तु यह नहीं कि बच्चन की कविता के उज्ज्वल पक्ष हैं ही नहीं। भाषा की नई पकड़, भावों की नई सूझ, नई मूर्तिमत्ता, गीतिकला—अनेक दृष्टियों से बचन का काव्य उत्कृष्ट है। उसमें वेदना, पलायन और आत्मघाती आनंदवाद के जो स्वर हैं वे परिस्थिति-जन्य हैं। कवि का जीवन जिन संघर्षों में से होकर गुज़रा है, उन्होंने जो गीत उठाये, वे ही कवि ने शब्दों में बाँध दिये।

✓छायावाद काव्य आधुनिक हिंदी काव्य की सर्वश्रेष्ठ प्रवृत्ति रही, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। इस काव्य में नारी, प्रकृति, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन, मानव-मन—अनेक नये विषय पहली बार स्वतंत्र रूप से ग्रहण किये गये और इस प्रकार काव्य-भूमि का अत्यंत व्यापक प्रसार हुआ। अद्वैत-मूलक रहस्यवाद इस काव्य का एक प्रधान अंग रहा, परन्तु वही सब कुछ नहीं था। जहाँ तक धार्मिक और आध्यात्मिक काव्य का सबंध है, रवीन्द्र की अध्यात्म-परक कविताओं से प्रभावित होकर हमने वैष्णव काव्य की परम्परा से हट कर संतों और सूफियो के निर्गुण प्रेमवाद से अपना संबंध जोड़ा। इस प्रकार नए मूल्य और नई भावनाओं का समावेश हमारे काव्य में हुआ। परन्तु साहित्यपक्ष में भी आमूल परिवर्तन हो गये। भाषा, शैली, छंद, मूर्त्तिमत्ता, नाद-सौन्दर्य—सभी वाह्य-उपकरण नये ढङ्ग से बन-सँवर कर सामने आये। सामूहिक रूप से छायावाद के तीन दशकों (१६१३-१६४२) का काव्य किसी भी काव्य धारा से हलका नहीं पड़ेगा, यद्यपि उसने किसी कबीर, तुलसी,

सूरदास या रवीन्द्रनाथ को जन्म नहीं दिया। फिर भी इस काव्य में बहुत कुछ इतना सुन्दर है कि वह किसी भी भाषा के श्रेष्ठतम काव्य के सम्मुख रखा जा सकता है। इसी काव्य ने पश्चिम के काव्यमाधुर्य से हमारा परिचय कराया और हम रीतिकालीन वासना-गह्वरों से निकल कर पहली बार प्रकृति, विश्व और मानव-जीवन के विस्तृत प्रांगण में खड़े हुए।

११

प्रगतिवाद

छायावाद काव्य की कई भंगिमायें विदेशी थीं, अतः अस्पष्ट थीं, और प्रारंभ से ही इनके विरुद्ध विरोध के स्वर ऊंचे उठते रहे। १९३२ के लगभग ही छायावाद के सौन्दर्यनिष्ठ आकाशचुम्बी रहस्य-चिंतन के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरंभ हो गई थी। जब 'सरस सुमन' (१९३०) में गुरुभक्तसिंह भक्त वर्ड्स्वर्थ की ओर मुड़े, तभी प्रगतिवाद के जन्म के लिए वातावरण तैयार होने लगा। काव्य जीवन के निकट आने लगा। भाषा और भाव दोनों में। छायावाद की विचित्रता, चंचलता, विद्रोहात्मकता का अंत हुआ। वाणी में स्थायित्व आया। गंभीरता आई। नैपाली (१९३४-) और बच्चन (१९३५-) के काव्य ने भाषा-विषयक परिवर्तन को और आगे बढ़ाया। 'बच्चन' को हम जीवन, प्रेम और व्यक्ति को नई आँखों से देखता पाते हैं। 'अंचल' की रचनाओं में आत्मा के विरोध में देह की पुकार ही ऊँची उठती है। भाषा, विषय, छंद और टेकनीक (अभिव्यंजना) के नये प्रयोग होने लगे हैं। अनेक रचनाएँ छायावाद और प्रगतिवाद की संधि पर खड़ी दिखलाई पड़ती हैं। 'तांडव' (१९४०) में ये दोनों काव्य-धाराएँ स्पष्ट रूप से अलग-अलग होती जान पड़ती हैं।

१९२७ ई० के लगभग ही छायावाद में अनुकरण की इतनी प्रधानता हो गई थी कि समीक्षकों के लिये एक समस्या खड़ी हो गई थी। इसी वर्ष 'सरस्वती' के सम्पादक को ऐसी निरर्थक रचनाओं से ऊब कर तीव्र आलोचना करनी पड़ी। रहस्यवादी ऊहात्मक कविताओं

की इस बाढ़ ने छायावाद को साधारण जनता के निकट लांछित कर दिया। १९३६ ई० तक छायावाद की कविता का विद्रोह मुखर हो चला था। 'सरस्वती', खंड ३७, संख्या ३, १९३६ की एक कविता 'रहस्यवाद का निर्वासन' इसका प्रमाण है। इसी वर्ष की पहली संख्या में 'रूखी रे यह डाल ....' गीत में कविता मे पलायनवाद पर चोट की गई। १९३७ में हम स्पष्ट रूप से नई प्रगतिवादी धारा का प्रवर्तन पाते हैं। रूपाभ (१९३८) और हंस (१९३ –) ने इस नवीनतम काव्य-धारा के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया। इस प्रगतिवादी की कई विशेषताएं हैं :

१—भाषा में गद्यात्मकता।

२—नये छन्दों की ओर विशेष आग्रह नहीं, परंतु भाववाहक छन्दों के निर्माण की ओर प्रवृत्ति।

३—निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण। बाह्य जगत को तद्गत और अनासक्त भाव से देखने का प्रयत्न।

४—समाजवादी सिद्धांतों का बहुल प्रचार।

५—किसानों और मज़दूरों का स्तव-गान।

६—यौन के प्रति तीव्र आकर्षण। फ्राइड का प्रभाव।

७—शोषितों और पीड़ितों के प्रति गहरी सहानुभूति।

८—बुद्धितत्त्व की प्रधानता।

९—मानवता (Humanism) और अंतर्राष्ट्रीयता (Internationalism)

१०—प्रभाववाद (Impressionism)

११—व्यंगात्मक लाक्षणिक शैली का प्रयोग। डी० एच० लॉरेन्स और टी० एस० इलिएट की रचनाओं का प्रभाव। इससे कविता में ध्वनि प्राणता की मात्रा बढ़ी है।

यह स्पष्ट है कि नए काव्य (प्रगतिवाद) में छायावाद के विरुद्ध

एक नये रास्ते के निर्माण का प्रयत्न किया गया है। छायावाद की अलंकृत भाषा के विरोध में गद्यात्मक भाषा और व्यंगात्मक लाक्षणिक शैली का प्रयोग वाह्य परिवर्तन है। परन्तु विशेष परिवर्तन इस बार फिर कविता की स्पिरिट का है। व्यक्तिवाद से हट कर कवि निर्वैयक्तिक (Impeorsnal) हो गया है। उसमें सामाजिकता ही प्रधान हो उठी है। किसानों, मज़दूरों, शोषितों और पीड़ितों का काव्य में प्रवेश इसी का फल है। बुद्धितत्त्व की प्रधानता (Rationalism) के कारण समाजवाद, मार्क्स और फ्रॉयड काव्य में प्रवेश पा गए हैं। इस नई कविता की सबसे आशाप्रद प्रवृत्तियाँ मानवतावाद और अंतर्राष्ट्रीयता है। छायावाद अधिकतः आध्यात्मिक और साहित्यिक क्षेत्रों को लेकर चला। चारों ओर के जीवन को उसने आँख की ओट कर लिया। अब यही बहिष्कृत जीवन सहस्रों द्वारों से काव्य के नक्षत्रगृह में प्रवेश कर गया है। मनुष्य की दैहिक भूखें उसका विषय बन गई हैं। अन्न, काम, सामाजिक साम्यता, आर्थिक मुक्ति हिंदी कविता के नये विषय हैं। परन्तु अतिवाद यहाँ भी घुस गया है। मनुष्य का बाहर का जीवन ही सब कुछ हो गया है, भीतर का जीवन (कला. सौन्दर्य, अध्यात्म, नैतिकता) कुछ भी नहीं रह गया है।

परन्तु इस नई 'प्रगतिवाद' काव्यधारा को जन्म लिये दस-बारह वर्ष से अधिक नहीं बीते। प्रगतिवादी प्रेमचंद के गोदान (१९३६) और 'कफ़न' की कहानियों से इस धारा के आविर्भाव-काल को संबन्धित करते हैं। नई धारा की कविता के रूप में बहुत कुछ सामने आया है। निराला की नई रचनाओं में कुकुरमुत्ता (१९४२), अणिमा (१९४३), बेला (१९४६) और नये पत्ते तथा पंत की युगवाणी (१९३९) और ग्राम्या (१९४०) और भगवतीचरण वर्मा का मानव (१९४२) प्रगतिवादी की कुछ श्रेष्ठ रचनायें हैं। यह तीनों कवि छायावाद की परम्परा को नई काव्य-परम्परा (प्रगतिवाद) से जोड़ते हैं, परन्तु वास्तव

में ये बौद्धिक प्रगति से बहुत आगे नहीं बढ़ते। प्रगतिवाद का प्रतिनिधि कवि अभी निर्माण की अवस्थिति में है। इसी से अभी नेतृत्व उन कवियों के हाथ में है जो पुरानी काव्य-परम्परा से जुड़े हुए हैं। जो नये तरुण कवि इस काव्यधारा को आगे बढ़ा रहे हैं उनमें प्रमुख हैं अज्ञेय, केदारनाथ मिश्र बालेन्दु, रांगेय राघव, गिरिजाप्रसाद माथुर, शिवमंगलसिंह सुमन, शमशेरबहादुर सिंह, रामविलास शर्मा, त्रिलोचन। अभी न तो इन कवियों ने अपने काव्य की कोई दिशा ही स्थिर की है, न इनका काव्य प्रचुर मात्रा में सामने आ सका है। अभी इनकी रचनाएं प्रयोग कालीन अवस्था में हैं।

फिर भी इन कवियों की रचनाओं को भली भाँति जानने के लिए और उनके ठीक-ठीक रसास्वादन के लिए यह आवश्यक है कि हम 'प्रगतिवाद' की विशेषताओं से परिचित हो जायें। शिवदान-सिंह चौहान और डॉ० रामविलास शर्मा प्रगतिवाद के मुख्य आलोचक हैं। शिवदानसिंह कहते हैं:—

१. "प्रगतिवाद साहित्य की वह धारा है जो पूँजीवाद के अंतिम काल में उत्पन्न होती है, जो पूँजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयाबियों और सजीव परम्पराओं को ग्रहण कर, एक नये जन-साहित्य का निर्माण करती है।"

२. उसका दार्शनिक आधार वैज्ञानिक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है।

३. वह केवल व्यक्ति की निजी रचना नहीं है, वह समाज से सम्बन्धित है। प्रगतिशील आलोचना साहित्य को सामाजिक और भौतिक आधार प्रदान करती है। प्रत्येक रचना की सामाजिक पृष्ठ-भूमि और सामाजिक जीवन पर पड़े उसके प्रभाव के इतिहास की विवेचना प्रगतिशील-आलोचक का प्रधान कर्तव्य हो जाता है।

४. प्रगतिवाद की शैली अभिव्यंजनावाद, रीतिवाद अथवा

फ़ोटोग्रैफ़िक यथार्थवाद की शैली नहीं है। क्योंकि प्रगतिवाद का जीवन के प्रति जो विशिष्ट दृष्टिकोण है उसकी अभिव्यक्ति इन पुरानी शैलियों द्वारा नहीं हो सकती। वे जीवन और समाज का उसके सम्पूर्ण गतिशील रूप में अभिव्यक्ति नहीं दे सकतीं। अतः प्रगतिवाद की शैली सामाजिक यथार्थवाद—समाजवादी यथार्थवाद और सामाजिक रोमैंटिसिज़्म की शैली है (Socialism Realism and Social Romanticism)

५. प्रगतिवाद साहित्य की विचार और भाव वस्तु (Content) और उसके अनुरूप ही वस्तु प्रकाशन की विधि, रूप विधान या शैली (Form) दोनों पर समान रूप से ज़ोर देता है। समाज के परिवर्तन में नूतन और पुरातन, समाजवाद और पूँजीवाद, मज़दूर और पूँजीपति, विज्ञान और अंधविश्वास के अंदर जो संघर्ष चल रहा है, उसमें लेखक की रागात्मक सहानुभूति सामाजिक क्षेत्र में किन शक्तियों और मानसिक क्षेत्र की किन विचार धाराओं के साथ है, इसका अनुमान हम उसकी रचना की विशिष्ट भाव और विचारवस्तु से लगा सकते हैं, क्योंकि किसी विशेष रागात्मक सहानुभूति से उत्प्रेरित होकर ही वह किसी विशेष समाज-वस्तु का चित्रण करता है—और यह समाज-वस्तु क्या है, उसके प्रति लेखक का रागात्मक संबन्ध किस प्रकार का है, इससे ही उसका दृष्टि-कोण, उसकी अभिव्यक्ति की प्राणशक्ति और विस्तार का निश्चय होता है। यदि लेखक अपने समय की उन समाज शक्तियों के साथ रागामत्क सहानुभूति प्रकट करता है जो समाज की प्रगति की अवरोधक हैं, अथवा यदि वह समाज को ज्यों-का त्यों स्वीकार करके अपने को समाज-संघर्ष से ऊपर (above battel) बनाने की व्यर्थ चेष्टा करता है, तो इससे उसका दृष्टिकोण और अभिव्यक्ति दोनों ही संकुचित, क्षीण और निःशक्त होंगे। किंतु यदि वह उन शक्तियों के साथ

अपनी रागात्मक सहानुभूति का अनुभव करता है, जो समाज को बदलने में सब से अधिक क्रियाशील हैं, जैसे श्रमिक-कृषक वर्ग या समाजवाद की शक्तियाँ, तो न वह केवल जीवन को एक व्यापक दृष्टिकोण से देख सकेगा या उसकी अभिव्यक्ति की प्राणशक्ति तीव्र होगी, बल्कि वह समाज में नये जीवन की उद्भावना और विकास का अनुभव भी प्राप्त कर सकेगा, जिससे उसकी कला जनता से प्राण-सम्बन्धित हो सकेगी।

६. प्रगतिवाद लेखक या कलाकार के सामने 'दृष्टिकोण' का प्रश्न उठा है। इस विभिन्न रूपात्मक समाज-सम्बन्धों, सामाजिक-वर्गों, राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली परम्पराओं और रूढ़ियों, स्त्री-पुरुष के प्रेम-सम्बन्धों के प्रति जो दृष्टिकोण रखते हैं वह प्रगतिशील है अथवा रूढ़िवादी, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक प्रश्नों पर हमारा दृष्टिकोण प्रगतिशील है या संकुचित, यह सब जटिल गुत्थियाँ प्रगतिवाद के लिए महत्व रखती हैं। प्रगतिवाद स्वभावतः शोषित मानवता का सांस्कृतिक दृष्टिकोण होने के कारण इन प्रश्नों पर अपना विशेष मत रखता है। प्रगतिवादी कलाकार अपनी रचनाओं में इसी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति देते हैं। प्रगतिवाद के नए दृष्टिकोण के अनुरूप ही उसकी अभिव्यक्ति भी होती है। प्रगतिवाद की विचार वस्तु (Content) और रूपविधान (form) का समुचित समन्वय 'सामाजिक यथार्थवाद' (Social Realism) की धारा में होता है। अतः 'सामाजिक यथार्थवाद' की धारा ही साहित्य में प्रगतिवाद है।

'प्रगतिवाद' के दूसरे प्रधान आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने 'प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न' शीर्षक लेख में नये साहित्य और नई मान्यताओं की विस्तृत व्याख्या की है। वे कहते हैं —

—'हमें ऐसा साहित्य चाहिये जो एक तरफ़ तो कला की उपेक्षा न करे। रससिद्धांत के नियामक जिस आनन्द की माँग करते हैं, वह साहित्य

से मिलनी चाहिए, भले ही उसका एकमात्र उद्गम रसराज न हो, भले ही उसकी परिणिति आत्मा की चिन्मयता और अखण्डता में न हो। कलात्मक सौष्ठव के साथ-साथ उस साहित्य में व्यक्ति और समाज के विकास और प्रगति में सहायक होने की क्षमता भी होनी चाहिये।

२—"...साहित्य की प्रचारात्मकता का प्रश्न सामाजिक जीवन की यथार्थता की कसौटी पर हल किया जा सकता है। जो साहित्य मनुष्य द्वारा मनुष्य के उत्पीड़न को छिपाता है, संस्कृति की झीनी-बीनी चादर बुनकर उसे ढाँकना चाहता है, वह प्रचारात्मक न दिखते हुए भी प्रतिक्रियावाद का प्रचारक हो जाता है।"

३—"रूप और विषय - वस्तु का सम्बन्ध अभिन्न और अन्योन्याश्रित है! प्रगतिशील साहित्य रूप-सौष्ठव का तिरस्कार करके दो क़दम आगे नहीं चल सकता। ... × ...... × .... × ... × ...जैसे बाल्मीकि का शोक श्लोक बन गया था, उसी तरह अपने चारों तरफ के वातावरण से, जिसमें उसका मानस भी शामिल है, प्रेरणा लेकर ही कलाकार रूप-सौष्ठव को जन्म दे सकता है।"

४—डा० रामविलास शर्मा सामाजिकता से रहित प्रयोगवाद, टी० एस० इलियट और फ्रॉइड को प्रगतिवादी शक्तियाँ नहीं मानते। उनके अनुसार ये तीनों प्रगतिविरोधी हैं।

५ "......मार्क्सवाद वास्तव में सांस्कृतिक परम्परा का पोषक है और मनुष्य की आर्जित सांस्कृतिक निधि को कभी भी खोना नहीं चाहता।"

६—"जिन सामाजिक परिस्थितियों में छायावादी साहित्य की रचना हुई थी, वे अब लौट कर नहीं आ सकतीं। इसलिये छायावाद को पुनर्जीवित करने का प्रयास विफल होगा। उसके विद्रोही पक्ष से नाता जोड़कर नया प्रगतिशील साहित्य आगे बढ़ेगा" (छायावाद के

विद्रोही तत्वों से लेखक का तात्पर्य है असन्तोष और विद्रोह की भावनाएँ जिनके विपरीत पलायन और रहस्यवाद के स्वर 'छायावाद' में प्रधानता पाए गये थे।)

२ "साहित्य की विषय। वस्तु जन-साधारण की आकांक्षाओं, उनके संघर्ष और जीवन द्वारा निश्चमित होगी। उसका रूप ज़ातीय होगा, आत्मा भारतीय होगी।"

ऊपर प्रगतिवाद के दो अधिकारी समालोचकों की जो व्याख्यायें उपस्थित की गई हैं उनसे इन काव्य की भिन्न। भिन्न प्रवृत्तियों पर भली भाँति प्रकाश पड़ता है। दोनों कवियों ने 'छायावाद' को पूंजीवादी व्यवस्था से सम्बन्धित किया है। दोनों आलोचक कई विषयों में सहमत हैं—

१. काव्य में नए सामाजिक या समाजवादी दृष्टिकोण का विकास

२. विषय के अनुकूल नई अभिव्यंजनात्मक शैली का विकास

३. द्वन्दात्मक भौतिकवादी शक्तियों में कवि की सहानुभूति प्रगति की ओर बढ़ाने वाले वर्ग के साथ

परन्तु जहाँ शिवदानसिंह अपनी व्याख्या को मार्क्सवाद तक ही सीमित रखते हैं, वहाँ डॉ० रामविलास पूर्वपरंपरा और कलावाद से इस नई साहित्यिक धारा का सम्बन्ध जोड़ते हैं। जहाँ तक विचार-धारा का सम्बन्ध है, वह मार्क्सवादियों के साथ हैं, परन्तु वह कविता की रसात्मकता, रूप और वस्तु के कलात्मक सङ्गठन और भारतीय काव्य की सांस्कृतिक परंपरा को लेकर ही आगे चलना पसन्द करते हैं। वह एक प्रकार समन्यवादी हैं। परन्तु कदाचित् नई यौन-सम्बन्धी कविताओं और टी० एस० इलियट की जैसी प्रयोगात्मक कविताओं के प्रति वह सहिष्णु नहीं हैं। इन्हें वह फासिस्त और बुर्जुआ पूंजीवादी संस्कृतियों की सहायक प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ समझते हैं।

जो हो, यह निश्चित है कि १९३६ ई० के बाद हिन्दी साहित्य

और हिन्दी कविता में नए दृष्टिकोणों का विकास हुआ है और जो नई कविता लिखी गई है, उसमें अपने पूर्व की कविता से अनेक प्रकार की विभिन्नता है। भारतेन्दु युग के लेखकों में अनेक नई साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतनाएँ जाग्रत हुई थीं जो उन्हें लोक-जीवन और लोक-काव्य से सम्बन्धित करती हैं। उस युग का निबन्ध-साहित्य और उनका काव्य आज के प्रगतिवादी साहित्य और नई कविता का पूर्व रूप जान पड़ता है। इसका कारण यह है कि भारतेन्दु युग के लेखकों और कवियों ने जनप्रवृत्तियों को पहचाना था और शास्त्र से विमुख होकर अपने साहित्य को उस ओर बढ़ाया था। द्विवेदीयुग के साहित्य में वे प्रगतिशील नई शक्तियाँ कुण्ठित हो गईं। जनता के जीवन की उपेक्षा हुई और कवियों और लेखकों ने शास्त्र और पूर्ववर्ती साहित्य से अपनी संवेदनाएँ उधार लेना आरम्भ कीं। फल यह हुआ कि जहाँ उनके साहित्य एवं काव्य में रूपात्मक प्रौढ़ता आई, वहाँ उसका दृष्टिकोण संकीर्ण हो गया। 'केवल रूप, केवल साहित्य, केवल कला' की पुकार हुई। 'छायावाद' इस पुकार का सबसे मुखर रूप है।

धीरे-धीरे राष्ट्रीय आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ और १९३० ई० के बाद मध्यवित्त का नेतृत्व रहने पर भी राजनीति में जनता (ग्रामीणों और मज़दूरों एवं उपेक्षितों) का प्रवेश हो गया। लेखकों और कवियों को जान पड़ा, वे केवल 'रूपों' में खो गये हैं। अपने चारों ओर के जीवन से उनका थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं है। सामाजिक और राष्ट्रीय असंतोष और बन्धनों के प्रति प्रक्रिया के रूप में विद्रोह, क्रांति, क्षोभ, वेदना और छंद-मुक्ति के जो आन्दोलन 'छायावाद' ने खड़े किये, वे वस्तुस्थिति से पलायन मात्र समझे गये। धीरे-धीरे विद्रोह और क्रांति की अस्पष्ट भावनाओं में स्पष्टता और सजगता आई और सामाजिक संघर्षों और मानव-जीवन की विषमताओं के सम्बन्ध में भी

लिखा जाने लगा। गद्य-साहित्य में 'गोदान' और 'कफ़न' और काव्य में 'युगवाणी' नई सामाजिक और समाजवादी व्याख्या को लेकर उपस्थित हुए। वैसे चाहे हम नई काव्यधारा को हरिश्चन्द तक पीछे ले जायें, परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि चेतन-रूप से नई धारा के आविर्भाव का श्रेय प्रेमचन्द और पंत को है। प्रेमचन्द के साहित्य में प्रगतिवादी जीवन-समीक्षा अज्ञात रूप से बराबर चली आती थी। उनके आदर्शवादी नायक अपने चारों ओर के जीवन को बदलने में बराबर असफल रहे यद्यपि आत्मबलिदान और आत्मपीड़न के गुण-गान के पीछे इस असफलता को बार बार छिपा लिया गया। परन्तु अपनी अंतिम रचनाओं में प्रेमचन्द की आँखों पर से आदर्शवाद और रहस्यवाद का परदा उतर गया और उन्होंने अपने समय के शोषण की भीषणता को स्पष्ट रूप से देखा और कहीं उसकी नैतिकता के ढोंग की खिल्ली उड़ाई, कहीं खुले शब्दों में उसे चुनौती दी। पंत का परिवर्तन अनुभवप्रसूत नहीं, अध्ययन-प्रसूत था। काव्य रूप में उनका नया सामाजिक अध्ययन 'युगवाणी' में प्रकाशित हुआ। अपनी दूसरी रचना 'ग्राम्या' (१९४०) में उन्होंने गद्यात्मक सामाजिक व्याख्याओं को छोड़ कर कृषकों और श्रमिकों के प्रतिदिन के जीवन में उतरने का प्रयत्न किया। अपनी नई कविताओं में निराला ने जनता की भावनाओं को जनता की भाषा में रखने का प्रयत्न किया। ये कवि पूर्णतः सफल नहीं हुए, इसके कारण इनका नई धारा के प्रवर्तन में श्रेय कम नहीं हो जाता।

परन्तु इन कवियों के बाद की तरुणों की नई पीढ़ी इनकी अपेक्षा छायावाद के प्रभाव से अधिक शीघ्र मुक्त हो गई और उसने सामाजिक विषमताओं और आर्थिक शोषण को कविता का विषय बनाने का अदम्य साहस किया। पिछले दस वर्षों की हिन्दी कविता का इतिहास इन तरुणों के प्रयोगों का ही इतिहास है। बौद्धिक रूप से

उन्होंने समाजवादी एवं मार्क्सवादी आलोचना को पूर्णतः ग्रहण कर लिया है, परन्तु पिछली अनेक प्रवृत्तियों से वे अपना पूरा-पूरा विच्छेद नहीं कर सके। फिर भी नई सामाजिक और राष्ट्रीय परिस्थितियाँ उन्हें बराबर आगे बढ़ा रही हैं और हिन्दी-काव्य का भविष्य उनके हाथ में है।

१२

उपसंहार

पिछले पृष्ठों में हमने लगभग १००० वर्ष के हिन्दी काव्य-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। मुख्य रूप से यह प्रवृत्तियाँ कुछ इनी-चुनी काव्य-धाराओं के रूप में प्रकाशित हुई हैं, परंतु श्रेणीबद्ध कर देने भर से इन दस शताब्दियों के काव्य की जीवित चेष्टाओं, बहुमुखी समस्याओं और उनके भिन्न-भिन्न समाधानों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। सच तो यह है कि पिछले एक हज़ार वर्षों का हमारा साहित्य मुख्यतः काव्य-साहित्य है और उसमें मध्यप्रदेश की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ ही विकसित नहीं हुई हैं, इन दस सदियों में धर्म, दर्शन, समाज और सौन्दर्य के सम्बन्ध में जो कुछ भी सोचा गया, जो कुछ भी अनुभूत हुआ, वह सब इस काव्यनिधि में आ गया है।

प्राचीन काव्य-साहित्य में हमें लौकिक और धार्मिक दोनों प्रकार की चिंताओं और प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। वीरकाव्य, प्रशस्ति-काव्य, दोहा-सतसई साहित्य और शृङ्गार एव नीतिकाव्य मुख्यतः लौकिक चिन्ताओं और प्रवृत्तियों को उपस्थित करते हैं, शेष काव्य धार्मिक एवं आध्यात्मिक विचारधाराओं और भावनाओं को प्रकाशित करता है। ७५० ई० से आधुनिक काल तक किसी-न-किसी रूप में चलने वाली धार्मिक और आध्यात्मिक चिन्ताओं को काव्य में स्थान मिल गया है। धर्म और अध्यात्म भारतीय संस्कृति का हृदय है। इस दृष्टिकोण से यह साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। वह कवियों का साहित्य नहीं है, साधकों की तपः-पूत साधना है जो भगवती भागीरथी की तरह सब के हित के लिए समान रूप से सुलभ है।

हिन्दी काव्य साहित्य की धर्म-चिन्ता को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है —

१. वैष्णव धर्म-चिन्ता। आधुनिक काल की मुख्य धार्मिक विचारधारा इसी श्रेणी के काव्य से प्रभावित है। सूरदास और तुलसीदास ने इस भावधारा में योग देकर संस्कृत साहित्य और काव्य-कला के सुन्दरतम अंगों को हिन्दी की निधि बनाया है। भारत के लगभग सभी प्रांतों में वैष्णव साहित्य मिलेगा, परन्तु हिन्दी वैष्णव काव्य की-सी विविधता और प्रौढ़ता अन्यत्र दुर्लभ है।

२. संतमत की धार्मिक चिंता। यहाँ संत मत को व्यापक अर्थ में लिया गया है। वैष्णव विचारधारा से एक भिन्न विचारधारा नवीं-दवीं शताब्दी से हिन्दी प्रदेश के पूर्वी भागों में चल रही है। इस विचारधारा में वर्णाश्रम संस्था अस्वीकार की गई है, वाह्याडम्बरों और धार्मिक विभिन्नता को छोड़ कर मूल मानव-धर्म को खोज निकालने की चेष्टा है और मूर्तिवाद के एवं अवतारवाद के प्रति विशेष आस्था नहीं है। ब्राह्मणों और शास्त्रज्ञ पंडितों के प्रति क्षोभ के भाव इस धारा में अत्यंत शक्तिशाली रूप से व्यक्त हुए हैं। सिद्धों, गोरखपंथियों, निरंजनियों और संतों का काव्य इसी श्रेणी में आता है।

३. विधर्मी धार्मिक चिन्ता। इस्लामी धार्मिक विचार-धारा और सूफ़ी विचारधारा मूलतः हिन्दी प्रदेश की चीज़ें नहीं हैं; परन्तु इनका सम्बन्ध जिन साहित्यिकों और पाठकों से है, वह इसी प्रदेश से सम्बन्धित हैं और उन्होंने हिन्दी भाषा द्वारा ही इस विचारधारा से अपना सम्बन्ध स्थापित किया है। यह विचाराधारा वैष्णव विचार-धारा की अपेक्षा संत विचारधारा के अधिक निकट है। वास्तव में यह विचाराधारा अधिक महत्व की नहीं है और इसने समसामयिक एवं परवर्ती साहित्य को बहुत कम प्रभावित किया है।

इन तीनों श्रेणियों के काव्य की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो

जाता है कि जहाँ विचारधारा की दृष्टि से संत मत सबसे अधिक प्रगतिशील है, वहाँ साहित्य और कला की दृष्टि से वैष्णव साहित्य सबसे प्रौढ़ है। वैष्णव साहित्य मूलतः स्वरक्षा के भाव से अनुप्राणित था। मुसलमानों के आने के पूर्व का वैष्णव हिन्दी साहित्य हमें उपलब्ध नहीं है, परंतु संस्कृत में वैष्णव विचारधारा का पूरा-पूरा इतिहास हमें मिल जाता है और वह हमें ई० पू० पहली-दूसरी शताब्दी तक ले जाता है। मुसलमानों की विद्वेष-भावना के कारण वैष्णव-विचारधारा में स्वरक्षा के भाव ने जन्म लिया और उसमें एक तरह की अगतिशीलता और संकीर्णता आ गई। वह पुरानी मान्यताओं को पकड़ कर बैठ गया और कई शताब्दियों तक इसी तरह पकड़े बैठा रहा। प्राचीन पौराणिक साहित्य और काव्य-साहित्य से उसने बहुत कुछ लिया। इस तरह उसके साहित्यिक अंग आश्चर्यजनक रीति से पुष्ट और सुगठित हो गये। संत साहित्य मुख्यतः वर्णाश्रम संस्था से असंतुष्ट उपेक्षितों और उन सहृदय मुसलमानों का साहित्य था जो वैष्णव भावना से प्रभावित होते हुए भी उसे आंशिक रूप में ही स्वीकार कर सकते थे। इसके पीछे साहित्य की कोई परंपरा नहीं थी। वह अपने अनुभूति के बल पर ही खड़ा था। परंतु इस साहित्य में साहित्य से बड़ी चीज़ है और वह है सत्य का अत्यंत स्वाभाविक रूप से प्रकाशन। कबीर और दादू की वाणी में जो सौन्दर्य है, जो ओज है, केवल मात्र सच्चाई की जो साहित्यिकता है, वह वैष्णव साहित्य में भी नहीं मिलेगी। सत्य का इतना सुन्दर, इतना प्रौढ़, परंतु इतना कला-हीन, आवरणहीन, छन्दहीन प्रकाशन विश्व के किस काव्य-साहित्य में मिलेगा ?

आधुनिक काव्य इस पुरानी परंपरा से बहुत दूर जा पड़ा है। उसे हम किसी भी प्रकार धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं कह सकते, यद्यपि रहस्यवाद (या रहस्यचिंतन ?) की एक शैली पिछले तीस वर्षों

में बराबर कवियों को अनुप्राणित करती रही है। यह काव्य साधना-प्रसूत नहीं, बुद्धिप्रसूत है। वह साहित्य-भंगिमा मात्र से ऊपर नहीं उठ पाता, अतः प्राणों को स्पर्श करने में समर्थ नहीं होता। ज्ञान-विज्ञान के आधुनिक युग में धर्म को लेकर मध्यवित्त जनता में जो द्विधा की भावना है, वह इस काव्य में पूर्णतः प्रतिफलित है। वैष्णव काव्य-धारा केवल परम्परा-पालन रूप में मैथिलीशरण गुप्त के काव्य के माध्यम से अबतक चली आती है, परन्तु आज का कवि धर्म से अधिक और चारों ओर की सामाजिक, राजनैतिक और भौतिक परिस्थितियों से अधिक प्रभावित है। इसीलिए आधुनिक काव्यधारा प्राचीन काव्य-धारा से गंगा-जमुना की धाराओं की भाँति एकदम अलग २ दिखलाई पड़ती है। पिछले दस वर्षों में अस्पष्ट आध्यात्मिकता और लोकोत्तर कलाविलास के विरुद्ध आंदोलन उठ खड़े हुए हैं। 'प्रगतिवाद' इनका सबसे सुगठित रूप है। कवि के काव्य में राष्ट्रहित और नई सामाजिकता को वाणी इतनी तीव्र हो गई है कि और सभी स्वर दब गये हैं। इस नई सामाजिकता का अर्थ है वर्गहारा, वर्णाश्रम सस्थाहीन, सामान्य मानवता की महत्ता की स्वीकृति। नये नये विषय और नई-नई समस्याओं ने काव्य में प्रवेश किया है। यही नहीं, साहित्य के मूल्यों के संबंध में भी तीव्र मतभेद उठ खड़े हुए हैं। क्यों लिखा जाये, किसके लिए लिखा जाये, किस भाषा में लिखा जाये, कौन छंद कवि की संवेदना को सब से सुन्दर रूप में श्रोताओं तक पहुँचा सकेंगे, इत्यादि अनेक प्रश्न सामने आ रहे हैं। वास्तव में अपनी काव्य-परंपरा से एकदम हट कर नई काव्य-संस्कृति गढ़ने के प्रयत्न हो रहे हैं।

ये प्रयत्न सफल होंगे या असफल, यह समय बतायेगा। परन्तु यह निश्चित है कि जहाँ शताब्दियों तक कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के साहित्य और काव्यशास्त्र की ओर देखा है, वहाँ वे अब लोक जीवन की ओर देखेंगे और जनता (ग्रामीण-कृषकों) में प्रच-

लित लोककाव्य की अनेक परंपराओं को जीवित करेंगे। साहित्य का मुख अब सामान्य जनता की ओर होगा, न अमीरों की ओर, न मध्यवित्त को आज की शासक जनता की ओर। धर्म और अध्यात्म हमारे भावी कवि को अधिक प्रभावित नहीं कर सकेंगे, यह भी निश्चित है। जिस सार्वभौमिक साम्यता और विश्वबंधुत्व की ओर संसार बढ़ रहा है, वही कल के कवि की वाणी देंगे। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि हमारे कवियों की एक हज़ार वर्ष की साधना उपेक्षित और तिरस्कृत हो जायगी। ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से कल के कवि को कबीर, विद्यापति, सूर, तुलसी से अपना सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा, परंतु यह सम्बन्ध काव्यदेह का सम्बन्ध नहीं, काव्यात्मा का सम्बन्ध होगा। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी कविता का भविष्य उज्ज्वल है और उसमें ऐसी अनेक प्रवृत्तियों का जन्म होगा जो युग की विचारधारा को सबसे सुन्दर, सबसे अधिक अभिव्यंजक रूप दे सकेंगी।